भारतीय कला
का
सिंहावलोकन

प्रेम-पत्र, भुवनेश्वर, (११ वीं शताब्दी)

भारतीय कला

का

सिंहावलोकन

पब्लिकेशन्स डिवीज़न
सूचना और प्रसार मंत्रालय
भारत सरकार

भूमिका

इस सिंहावलोकन में भारतीय कला के आज तक के विकास के इतिहास को यथासंभव प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रस्तुत कला की वर्तमान प्रवृत्तियों का विवेचन पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रयत्न यही किया गया है कि आधुनिक कला-प्रवृत्तियों की किसी भी महत्त्वपूर्ण विशेषता की उपेक्षा न हो।

वस्तुतः वर्तमान कला के विवेचन का कार्य सरल नहीं है। इतने विभिन्न प्रभाव उस पर पड़ रहे हैं कि आधुनिक भारतीय कला के किसी भी समग्र और विस्तृत विश्लेषण का विचार हमें आरम्भ में ही त्याग देना पड़ा।

आज हमारे देश में साधनाशील कलाकारों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सब की कृतियों का समावेश करना संभव नहीं हो सका। कला-कृतियों को अलग-अलग देना या उनका अलग-अलग विवेचन करना भी संभव न था। देश के सभी भागों के कला-पीठों, म्यूज़ियमों, कला-संस्थाओं तथा चित्रकारों और मूर्त्तिकारों ने इस पुस्तक की तैयारी के लिए जो हार्दिक सहयोग प्रदान किया है उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

विषय-सूची

चित्र-सूची

चित्र

सादे चित्र	चित्रकार	पृष्ठ

मूर्त्तियाँ

सारनाथ, सिंह-मस्तक

प्राचीन और मध्यकालीन

मोहनजोदड़ो की मुहर

मानव प्रयास के इतिहास में भारतीय कला का अपना स्थान है। भारत की आत्मा को समझने के लिए पहले उसकी कला को हृदयंगम कर लेना नितान्त आवश्यक है। कला देश की सांस्कृतिक प्रगति का प्रतिबिम्ब अथवा दर्पण है। उसमें देश की युग-युग की प्रगति प्रतिबिम्बित होती है। धार्मिक चिन्तन और भावों की प्रगति के अध्ययन के लिए अद्भुत मूर्तियों और कलाकृतियों की सामग्री भारत में अनन्त है। वस्तुतः भारतीय प्रतिभा और इस देश के कृतित्व का सब से सुन्दर प्रमाण कला के अद्भुत नमूनों में ही है। कला और जीवन का सामंजस्य जैसा इस देश में हुआ है वैसा शायद और कहीं नहीं। इस सामंजस्य ने कला और जीवन दोनों को विकसित और समृद्ध किया है।

भारतीय कला का इतिहास आज से प्रायः ५,००० वर्ष पहले सिंधु नदी की घाटी में प्रारम्भ हुआ। सिन्धु सभ्यता के नगर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, जो अब पुराविदों के प्रयत्न से खोद डाले गए हैं, इस बात के प्रमाण हैं कि उस भूखंड में एक असाधारण प्रगतिशील सभ्यता विद्यमान थी। घरेलू व्यवहार के लिए जिन सुन्दर वस्तुओं का उपयोग वहां होता था उनसे उस सभ्यता के निर्माताओं की सुरुचि प्रमाणित है। उनके बर्तनों और कलशों पर जानवरों आदि के जो चित्र बने हैं उनसे स्पष्ट है कि सिन्धु सभ्यता के युग में रहने वालों को रूप और आकृति का सूक्ष्म बोध था और अपने रूप-रेखाओं के चित्रण में वे अपने उस ज्ञान और सूझ का सही प्रयोग करते थे। उनके अनेक रेखा-चित्रों और चूने-मिट्टी की बनी प्रतिमाओं में, लगता है, जीवन जैसे नाचता हो। धातु और पत्थर की मूर्तियों के ढालने और बनाने में उन्होंने अद्भुत दक्षता प्राप्त कर ली थी। मोहनजोदड़ो की कांसे की नर्तकी में जैसे कलाकार ने गति और प्राण फूंक दिए हैं। हड़प्पा का नर-मूर्ति-खण्ड शारीरिक बनावट की दृष्टि से पत्थर की कला का वह अद्भुत नमूना है जिसकी टक्कर की कृति का मिलना सदियों और सहस्राब्दियों के प्रसार में भी कठिन है। और भारत के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि यह मूर्ति संसार के प्रारम्भिक काल की है। सिन्धु घाटी में मिली चूने-मिट्टी की मुहरों पर बनी पशुओं और बनैले जानवरों की आकृतियां सजीवता में बेजोड़ नमूने प्रस्तुत करती हैं। मोहनजोदड़ो की प्रसिद्ध सांड़ की आकृति पत्थर की मूर्ति बनाने की कला की प्रतीक है। शक्ति और गति का मूर्तिमान रूप यह सांड़ सब प्रकार से अपना 'पुंगव' नाम सार्थक करता है।

मूर्त्ति कला

सिन्धु सभ्यता की प्रागैतिहासिक और मौर्यकालीन (चौथी और तीसरी शताब्दी ई० पू०) संस्कृतियों में बड़ा अन्तर है। इतिहास की प्रगति ने कलाकारों के मन्तव्य और विचारों में इस बीच काफी अन्तर डाल दिया है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में पत्थर की मूर्ति कला नए सिरे से चमकी। शैली की दक्षता, अभिराम आकृति के निर्माण और भावों को व्यक्त करने में इस काल का तक्षक अपना सानी नहीं रखता। भारतीय कला के इतिहास में मौर्य कला शक्ति, गति और गुरुता में अपना वही स्थान रखती है जो तत्कालीन राजनीतिक इतिहास में रखती है। सारनाथ का सिंह-मस्तक, जो आज भारत का राष्ट्र-चिन्ह है, शक्ति और भाव की अभिव्यक्ति में सर्वथा बेजोड़ है। कलाकार की मेधा ने पत्थर में जान डाल दी है। इस मस्तक के चार सिंह चारों दिशाओं की ओर मुंह किए पीठ से पीठ सटाये खड़े हैं और नीचे चार पशु चक्रों के अन्तर से दौड़ते दिखाये गये हैं। सिंह शक्ति के प्रतीक हैं, दौड़ते पशु गति के और चक्र मानव भाग्य की बनती-बिगड़ती परिस्थितियों के। इनका आधार अधोमुखी पंखुड़ियों वाला कमल या घंटा है और यह सारी रचना ऊपर के धर्मचक्र का आधार है। अशोक-स्तम्भ का यह अद्भुत मस्तक दुनिया की मूर्ति-कला में अपना विशेष स्थान रखता है। बिहार प्रान्त के रामपुरवा में भी एक ऐसा ही अद्भुत स्तम्भ है जिसका सांड़ की आकृति का मस्तक शक्ति और गति, मूर्ति-निर्माण और स्वाभाविकता में अपना आदर्श आप है।

मौर्य-काल की यह कला निस्सन्देह राजकीय थी और राजा की संरक्षकता में फूली-फली थी। परन्तु इसके अतिरिक्त उस समय जन-कला का भी उदय और विकास हुआ, जिसमें साधारण जनता के भाव, उसके भय और विश्वास अनुप्राणित हुए। यक्ष और यक्षिणी के से देवी-देवताओं में उस समय लोगों का अगाध विश्वास था और उस समय की कला इन्हीं मूर्त्तियों से सजाई गई थी। यक्ष और यक्षियों की ये मूर्त्तियां असीम शक्ति की प्रतीक हैं। उनकी भरी आकृति जीवन की उस खुली, गर्वीली और उच्छृंखल भावुकता को अभिव्यक्त करती है जो उस काल की विजयिनी भारतीय जाति की विशेषता थी। ये आकृतियां नाम मात्र को देवी थीं। वस्तुतः वे रक्त मांस के नर-नारियों के नमूने थे, जिनमें देवी लक्षणों का चमत्कार भर दिया गया था। यक्षियों की ये प्राचीन मूर्त्तियां मानव-शक्ति और भोग-विलास का मूर्त्तिमान उदाहरण हैं। पटना म्यूजियम में संगृहीत दीदारगंज की यक्षी रूप की अभिव्यक्ति, आकृति की पूर्ण रेखा और कला की सूक्ष्मता का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत करती है। इसकी पालिश मौर्यकाल के सुन्दरतम नमूनों में से है। इस काल की भारतीय मूर्त्ति कला में विराग का भाव प्रायः नहीं मिलता, उसमें विशेषतः विनय, शक्ति और सौन्दर्य की आराधना

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में इस जन-कला ने अद्भुत प्रगति की। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ऊंचे-नीचे जन-विश्वासों के सामंजस्य ने मूर्त्ति कला में एक नई मंज़िल तय की। भरहुत और सांची (ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी) के स्तूपों के तोरण द्वारों और वेदिकाओं (रेलिंगों) पर जिन विविध आकृतियों का उत्खचन है वह शुंग काल की संस्कृति का मूर्त्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन दिनों जिन दरी-गृहों (गुफाओं) का निर्माण हुआ उनमें भी कला का वही जीवित रूप प्रदर्शित है। राजा और प्रजा, सेठ और किसान, पशु और पौधे इन स्तूपों की मूर्त्तियों में समान रूप से स्थान पाते हैं और तत्कालीन धार्मिक जीवन और सामाजिक प्रगति को अनुप्राणित करते हैं। अमरावती और नागार्जुनकोंडा (लगभग १००--३०० ईस्वी) के स्तूपों की संगमरमर की पट्टिकाएँ कला की उसी शताब्दी और परम्परा को विकसित करती हैं। उनकी आकृतियों के उभार सजीवता और स्वाभाविकता के नमूने बन गए हैं।

पहली शताब्दी ईस्वी में नई शक्तियों ने भारतीय राजनीति में पदार्पण किया। कला के क्षेत्र में उसका प्रभाव गहरा पड़ा। परिणाम स्वरूप मथुरा में जिस कलापीठ का प्रारम्भ हुआ उसने भारतीय कला में एक नया दृष्टिकोण और नई चेतना उपस्थित की। मथुरा में जहां एक ओर धर्म-सम्बन्धित जैन और बौद्ध मूर्त्तियां निर्मित हुई, वहीं दूसरी ओर आकृति का सौन्दर्य भी निखारा गया। वेदिका-स्तम्भों (रेलिंगों) पर उभरी हुई नग्न यक्षी मूर्त्तियां और आपान-दृश्यों में भाग लेने वाली नारी आकृतियां शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। पक्षियों, वृक्षों, लताओं और कलकल करती बहती नदियों के साहचर्य से सजीव ये नारी मूर्त्तियां जीवन के अनेक स्वप्नों को सत्य करती हैं। किसी प्राचीन समीक्षक ने सही कहा है कि 'इनकी क्षीण कटि और पीन स्तन देवताओं को भी वशीभूत करने में समर्थ हैं।' नारी आकृतियों के ये माडल अनेक प्रकार से अनेक मुद्राओं में वेदिका-स्तम्भों पर खुदे मिलते हैं। ये नारियां क्रीड़ा के विविध रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इनमें से कोई अशोक का दोहद सम्पन्न करती है, कोई पुष्पित अशोक के नीचे खड़ी फूलों के गुच्छे तोड़ती है, कोई कदम्ब-कलियों का चयन करती है, कोई पहाड़ी झरने के नीचे खड़ी स्नान में विभोर है, और कोई अपने प्रसाधन में व्यस्त है। मंडन और शृंगार में व्यस्त अनेक यक्षी आकृतियां मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में सुरक्षित और प्रदर्शित हैं। इनमें से अनेक असि-नृत्य कर रही हैं या तोते-हंसों को चारा चुगा रही हैं। परन्तु मथुरा-कला का वास्तविक गर्व इन कुशान-कालीन यक्षियों से कहीं महत्वपूर्ण, बुद्ध की वह गुप्तकालीन अद्भुत मूर्त्ति है जो तक्षणकला में अपना प्रतीक आप है। मथुरा का कला केन्द्र निरन्तर उन्नति करता गया, उसके तक्षक सुन्दरतम आकृतियां गढ़ते गए। भारतीय कला के स्वर्ण युग गुप्तकाल (चौथी-पांचवीं शताब्दी) में यह केन्द्र अपनी शक्ति और दक्षता में चरम सीमा तक पहुंच गया। अब तक उच्छृंखलता और सम्मोहक अंगप्रियता संयत कर ली गयी थी और उनका स्थान आध्यात्मिक चेतना ने ले लिया था। मूर्त्तियों में आकर्षक आकार-चेष्टा के स्थान पर भावों की सूक्ष्मता घर कर चली। इस काल की भारतीय मूर्त्ति और चित्रकला संसार की कला के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। यह कला अब अपने पाश और शाखाएं फैलाकर बाहर के देशों पर भी अपना जादू डालने लगी। इसके मुख्य परिवार में मध्य एशिया, चीन, जावा और कम्बोडिया आ मिले और उन देशों में भारतीय कला की भाव-परम्परा मूर्त्तियों को अनुप्राणित करने लगी। प्रम्बनम और बोरोबोदुर के मन्दिरों की मूर्त्तियां भारत की इस कला सम्बन्धी सांस्कृतिक विजय के स्पष्ट प्रमाण हैं। इस काल की भारतीय कला के सब से सुन्दर नमूने मथुरा, सारनाथ और अजन्ता की वे बुद्ध मूर्तियां हैं जिनमें गुप्त काल की कला सम्बन्धी भाव-चेतना निस्सीम रूप से चरितार्थ हुई। इन बुद्धों का मुख-मंडल लोकोत्तर आनन्द से आलोकित है और इनकी प्रसन्न मुद्रा उस दया और प्रेम की सूचक है जिसे तथागत ने समस्त प्राणियों के प्रति दर्शाया था। गुप्त काल की सौन्दर्य-चेतना केवल पत्थर की मूर्त्तियों में ही नहीं चमकी, उसने मिट्टी के खिलौनों और इमारतों की ईंटों को भी अपने स्पर्श से धन्य किया। हज़ारों मिट्टी के खिलौने और मन्दिरों की ईंटें जो आज हमें उपलब्ध हैं यह प्रमाणित करती हैं कि उस युग में कला के प्रसार में किसी प्रकार की कृपणता नहीं दिखाई गई और सूर्य की किरणों की भांति समान रूप से उसने सब को जीवन-दान दिया।

भारतीय कला का मध्य युग एक प्रकार की जातीय तन्द्रा के बाद विकसित हुआ। विदेशी हमलों ने गुप्त साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी थी और उनकी बाढ़ स्कन्दगुप्त का तप भी न रोक सका था। परिणामस्वरूप अनेक विदेशी जन-धाराएं इस धरा पर फूट पड़ीं। कुमारिल और शंकराचार्य जैसे व्याख्याताओं ने फिर से भारतीय समाज को परिष्कृत और शक्तिमान बनाने के प्रयत्न किए।

हिन्दू संस्कृति में एक नई चेतना जन्मी, एक नई शक्ति जगी। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक का यह मध्य युग मन्दिरों और उनकी मूर्तियों के निर्माण में बड़ा समर्थ सिद्ध हुआ। एलोरा और एलीफेन्टा की आठवीं शताब्दी की दरी-मन्दिरों की मूर्तियां शक्ति में असामान्य हैं। सिन्धु तट पर खड़े महाबलीपुरम् के एक पत्थर के कटे दरी-मन्दिर में मूर्ति कला के कुछ ऐसे नमूने हैं जो तत्कालीन भारतीय कला-जगत् की इस नवीन चेतना के प्रमाण हैं। तपस्यारत भगीरथ और अर्जुन तन्मयता और सजीवता में, शक्ति और सौन्दर्य में इस कला के अद्भुत प्रतीक हैं। इन मन्दिरों में प्रायः देवों और असुरों के संघर्ष प्रतिबिम्बित हैं जिनमें शिव और विष्णु ने तमोगुणी शक्तियों पर विजय पाने का सफल प्रयत्न किया। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में एक नई काव्य-चेतना जागृत हुई थी। उसके फलस्वरूप मध्यकालीन कला में भी एक प्रकार की तरलता प्रवाहित हुई जो सर्वथा धार्मिक अनुभूति और चेतना से भिन्न थी। भारत में तब जो अनेक मन्दिर बने और उनकी बाहरी दीवारों पर जो अद्भुत नारी-आकृतियां निर्मित हुईं उनके सौन्दर्य ने दर्शकों को मुग्ध कर दिया। उड़ीसा के भुवनेश्वर के मन्दिरों पर बनी ये मूर्तियां लौकिक लक्षण की आश्चर्यजनक कृतियां हैं। प्रेम-पत्र लिखती हुई तरुणी, शिशु से खेलती हुई युवती माता और दर्पण में मुंह देखती हुई नारी का सौन्दर्य कलाकार ने अद्भुत क्षमता से मूर्त्त किया है।

दक्षिण भारत की तत्सामयिक मूर्त्ति कला ने अपने क्षेत्र में काले पत्थर की सामग्री से जिस नए प्रयोग को जन्म दिया वह उस क्षेत्र में सफल और स्थायी हुआ। वहां के कलाकारों की दक्षता ने पत्थर को इस प्रकार चमका दिया कि वह धातु की आभा धारण कर चला। रोमांचक गति और सम्मोहक ध्वनि का माधुर्य उसने अपनी कृतियों में भरा। इस कला के नमूनों में आखेटिका और कृष्ण अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इस काल की राजस्थानी मूर्त्तियों में सरस्वती की संगमरमर की मूर्त्ति असामान्य है।

कांस्य मूर्त्तियां

धातु ढालने की कला भारतीयों ने बहुत प्राचीन काल में सीख ली थी। धातु ढाल कर मूर्त्ति बनाने की कला सिन्धु सभ्यता में ही प्रचलित हो गई थी। मोहनजोदड़ो की कांसे की नर्तकी की मूर्त्ति इस क्षेत्र में लासानी मानी जाती है। ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में तक्षशिला में भी सुन्दर किन्तु कद में अपेक्षाकृत छोटी मूर्त्तियां ढाली गई। गुप्त काल में तो अन्य कलाओं की भांति इस कला ने भी पर्याप्त उन्नति की थी। बरमिंघम की आर्ट गैलरी में रखी हुई भागलपुर की बुद्ध की आदम कद मूर्त्ति देखने वालों को हैरत में डाल देती है। इसी प्रकार सिंध के मीरपुर खास के स्तूप में मिली ब्रह्मा की मूर्त्ति असामान्य है। पाल युग (नवीं-ग्यारहवीं शताब्दी) में धातु की मूर्त्तियों की संख्या बेहद बढ़ गई और मूर्त्तियों के निर्माण में पत्थर से भी अधिक धातु की सामग्री प्रयुक्त होने लगी। कला की व्यंजना और अभिव्यक्ति में भी भारतीय कलाकार उन्नति के शिखर पर जा पहुंचा।

परन्तु इस क्षेत्र में सुन्दरतम नमूने चोल वंश (दसवीं-तेरहवीं शताब्दी) के हैं। इस काल के स्थपतियों ने मोम के पुतलों का प्रयोग किया, जो पहले तो धातु की मूर्त्तियों के आधार-स्वरूप प्रयुक्त होते थे, फिर मूर्त्ति ढालते समय पिघला लिए जाते थे। इस वर्ग की मूर्त्तियों में सब से सुन्दर शिव-तांडव है जो नृत्य की गति से जन्मने और नष्ट होने वाली सृष्टि का प्रतीक है। ज्वालाओं के प्रभा-मण्डल से घिरे शिव के एक हाथ में डमरू और दूसरे में प्रलयकारी अग्नि है। बाकी दोनों हाथ अभय और क्रिया की मुद्रा में उठे हुए हैं। दाहिना चरण अज्ञान के असुर को कुचल रहा है और

बायां गति के वेग से अधर में स्तम्भित है। डाक्टर कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि "भारतीय कला में नटराज की कल्पना एक महान कृति है। शुद्ध जनित बुद्ध मूर्त्ति का वह विरोध और पूरक दोनों है क्योंकि जन्म के क्रम की वह शुद्ध दर्शनीय मूर्त्ति है। नाचती मूर्त्ति की गति को कलाकार ने इस प्रकार से संतुलित किया है कि जहां मूर्त्ति अपनी गति से अधर को भरती है वहां उसका वेग उसके सर्वथा स्थिर रहने का आभास देता है; लगता है जैसे वेग से नाचता हुआ लट्टू स्थिर हो गया हो।"

इस काल और क्षेत्र में अनेक देवी-देवताओं की सुन्दर मूर्त्तियां बनीं। राम, कृष्ण, विष्णु, पार्वती आदि की अनेक मूर्त्तियां उत्कृष्ट कलाकारों के हाथों से प्रादुर्भूत हुईं। सन्तों और दाताओं की मूर्त्तियां मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुईं। शिव, पार्वती और उनके बीच बैठे स्कन्द का मूर्त्त परिवार इस काल की अनोखी कृति है। इनमें शिव का योग और पार्वती का आकर्षक सौन्दर्य अद्भुत रूप से फूट पड़ा है।

चित्र-कला

भारतीय चित्र-कला का महत्त्व भी मूर्त्ति-कला की अपेक्षा कुछ कम नहीं है। कलाकार ने रंग और रेखा द्वारा भावों को सजीव किया और धर्म-चेतना जगाई। अजन्ता की चित्र-कला (ईसा पूर्व पहली शताब्दी से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक) के भित्ति-चित्र हमारे सामने एक जीवित संसार प्रस्तुत करते हैं जिसमें नगर और वन हैं, महल और पर्वत भी। इन स्थानों में जो दृश्य दिखलाई देते हैं उनमें राजा-रानी, अमीर-कंगाल, भिक्षु-विलासी सभी का अंकन है। अजन्ता की यह चित्र-परम्परा तत्कालीन भारतीय समाज का रंगमंच है। चित्र कला के आचार्यों ने विलासी और आध्यात्मिक जीवन की विविध स्थितियों का इन दरी-गृहों में अद्भुत अंकन किया है। इन गुफाओं में भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग की कला अपनी सारी समृद्धि के साथ अवतरित हुई है। अजन्ता के चित्रों का प्रभाव देशव्यापी तो हुआ ही, मध्य एशिया, वर्मा, सिंहल, चीन और जापान पर भी उसने अपना गहरा प्रभाव डाला। उन देशों की कला भी अजन्ता के भाव-तत्व से मुखरित हुई। बुद्ध के जीवन की घटनाओं को खींच और रंग कर मनुष्य के जीवन की विविध परिस्थितियों का आचार्यों ने दिग्दर्शन कराया और उनके आचरण से साधारण नर नारियों के लिए उदाहरण उपस्थित कर उनका धुंधला मार्ग आलोकित किया। किस प्रकार उद्धारण से कल्याण का मार्ग पकड़ा जा सकता है, किस प्रकार 'बहुजन हित' से जग-कल्याण की भावना चरितार्थ हो सकती है—यही अजन्ता के चित्रों का भाव और उद्देश्य है। इन अंकनों का सब से सुन्दर और सब से आश्चर्यजनक उदाहरण मानवता के कल्याण के प्रतीक अवलोकितेश्वर पद्मपाणि बुद्ध हैं।

अजन्ता के अतिरिक्त देश में अनेक दूसरे चित्रण-कला के केन्द्र प्रतिष्ठित हुए। इनमें ग्वालियर के बाघ और दक्षिण भारत के सित्तनवासल के भित्ति-चित्र बड़े सुन्दर हैं। इसी काल में लंका के सिगिरिया नामक स्थान में जो चित्र बने वे कला की दृष्टि से असामान्य हैं। आठवीं शताब्दी से भित्ति-चित्रों का व्यवहार भारत में कम होने लगा और छोटे चित्रों की परम्परा चली। इनके दो केन्द्र, एक बंगाल में (नवीं-बारहवीं शताब्दी) और दूसरा गुजरात में (ग्यारहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी) प्रतिष्ठित हुए। पुस्तकों और निमन्त्रण-पत्रों के पृष्ठों पर छोटे अभिराम चित्र खींचे गए। पालकालीन चित्रों का विषय बौद्ध धर्म है, और चित्रण की सादगी और रेखा की शक्ति उस कला की विशेषता है। महायान सम्प्रदाय की भक्ति की दृढ़ता इन चित्रों में अधिकतर प्रतिबिम्बित है। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रज्ञा पारमिता' की पांडुलिपियों के अनेक चित्रित तालपत्र भी सुरक्षित हैं।

गुजराती चित्रण का प्रसार ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक प्रायः पांच सौ वर्ष रहा। काल और शैली के विचार से इस कला के दो रूप हैं। इनमें से एक तो आरम्भ का है जिसने तालपत्रों की पांडुलिपियों को चित्रित किया और दूसरा बाद का, जो काग़ज़ के ऊपर खींचा गया। इस दूसरे रूप का प्रसार सन् १३५० से १४५० ईस्वी तक रहा जब तालपत्रों के स्थान पर काग़ज़ का व्यवहार होने लगा। इन चित्रों की विशेषता उनकी आकृतियों के नुकीलेपन में है। नुकीली शक्लों में नुकीली नाक विशेष स्थान रखती है और उसका तीन-चौथाई भाग बगल से दिखाया जाता है। इस पार्श्व-आकृति में आंखें उभरी होती हैं और निकटवर्ती चित्र-भूमि अलंकारों से भर दी जाती है। इन छोटे चित्रों की लम्बाई और चौड़ाई साधारणतया सवा दो इंच है। इनमें प्राचीनतर चित्रों की पृष्ठभूमि लाल वर्ण की है। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी और बाद के चित्रों में वही पृष्ठभूमि नीले और सुनहरे रंग की हो गई है। इन चित्रों के विषय विविध हैं। इनमें जो प्राचीन हैं वे अधिकतर जैन धर्म-ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु बाद में उनका उपयोग गीत-गोविन्द, भागवत, बालगोपाल-स्तुति और प्रणय-सम्बन्धी पांडुलिपियों में होने लगा। सन् १४५१ ईस्वी का कपड़े के ऊपर चित्रित 'वसन्त-विलास' वसन्त के उल्लास का अंकन करता है। इसी प्रकार एक दूसरी पांडुलिपि में कवि और उसकी प्रिया के प्रणय का चित्रण बहुत सफल हुआ है। इस कला की विशेषता इसके प्रबल रेखा-चित्रण और सविस्तर अलंकरण में है।

राजस्थानी : सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजपूत कला भारतीय प्रतिभा को एक नई दिशा में ले चलती है। प्रणय और भक्ति के नए स्रोत उसमें खुल पड़े हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के पश्चिमी हिमालय प्रदेश और राजस्थान की कला तत्कालीन भारतीय जनता के विविध भावावेशों का हमें दिग्दर्शन कराती है। डाक्टर कुमार स्वामी का कहना है कि "राजपूत चित्रकारों की कृतियों का सम्मान संसार के सुन्दरतम चित्रण की पंक्ति में होना चाहिए। वास्तव में इन चित्रों के विषय जनता के हृदय और उसके काव्य संगीतादि से सम्बन्धित हैं।" इन चित्रों में सब प्रकार के संयोगों का साधन प्रेम माना गया है। इनमें प्रणयी सदा राधा और कृष्ण हैं जो पुरुष और नारी के रूप में अपने दैवी कृत्यों में पार्थिव जीवन प्रतिबिम्बित करते हैं। गार्हस्थ्य जीवन की सभी साधें, सभी भावनाएं इनमें चित्रित हुई हैं। गृह का अन्तर्जगत् खुल कर इन चित्रों की रेखाओं के भीतर बरस पड़ा है। वस्तुतः इनके दैवी उपकरण घर में घटित जीवन का एक संस्करण मात्र हैं। उनमें अद्भुत और असाधारण के लिए स्थान नहीं।

इन चित्रों की नारियां नारी-सौन्दर्य का आदर्श हैं। उनके कमलवत् मुख, कमल से नेत्र, लम्बी वेणी, पीन पयोधर, क्षीण कटि और कमल सरीखे कर सौन्दर्य के क्षेत्र में अंगीकृत आदर्शों की याद दिलाते हैं। इनमें से अनेक में हिन्दू नारी की पति-भक्ति और देव-भक्ति अत्यन्त निष्ठा से अंकित हुई है।

इस क्षेत्र के चित्रकारों ने रंगों के मिश्रण और उनके प्रयोग में अद्भुत क्षमता प्राप्त कर ली थी। इनकी चमक राजस्थानी चित्रों की अपनी बात है। राजस्थानी चित्रों के विषय उतने ही विविध हैं जितने हिन्दू भारत के मध्यकालीन साहित्य के विषय। उनमें प्रेम और भक्ति के भाव, जीवन के अनियंत्रित आनन्द और उल्लास ओत-प्रोत हैं। राजस्थानी और हिमाचल - कला के चित्रों में इन भावों और जन-स्थितियों का विशेष प्रकार से निरूपण हुआ है। कृष्ण लीला की अनेक घटनाएं कल्पना और रंग के मिश्रण से चमक उठी हैं। नायक और नायिका के शृंगारिक प्रदर्शन, शिव और पार्वती का संयोग, रामायण और महाभारत की घटनाएं, हम्मीर - हठ और नल-दमयन्ती आदि काव्य, बारहमासे तथा रागमालाएं इन चित्रों के अनन्त विषय हैं।

राजस्थानी चित्रों में तो रागमालाओं की एक स्वतंत्र परम्परा ही बन गई थी। इन रागिनी

चित्रों की संख्या काफी है। इनका प्रादुर्भाव अधिकतर हिन्दुओं की धार्मिक प्रगति और संगीत-प्रेम से हुआ। रागमाला चित्रणों के सब से सुन्दर नमूने साधारणतः सत्रहवीं शताब्दी के हैं। इनमें भाव और रस-तत्त्व की जो सुकुमार तरलता प्रवाहित है वह इन्हें अपने क्षेत्र में बेजोड़ कर देती है।

चित्र की रेखाओं द्वारा संगीत का निरूपण भारतीय कला की अपनी चीज़ है। राग अथवा रागिनी अपने भावाधार पर प्रणय के सन्धि-विच्छेद या संयोग - वियोग अंकित करते हैं। राग का अंकन मन की उस स्थिति का दर्पण है जिसमें प्रकृति का भौतिक रूप प्रतिबिम्बित होता है। रागों का नामकरण विशेषतः भौगोलिक है ; उदाहरणतः टोड़ी रागिनी का सम्बन्ध दक्षिण भारत के प्राचीन तोड़ी से है। इस रागिनी का प्रदर्शन अक्सर वीणा-पाणि सुन्दरी के रूप में हुआ है जिसकी वीणा के राग-कम्पन से आकृष्ट मृग उन्मुख चित्रित होता है। प्रतीकतः यह उस प्रभाव का प्रदर्शक है जिसमें नारी का घटा की भांति उठता हुआ यौवन प्रणयियों को आकृष्ट करता है और जिसके प्रभाव से पशु भी चमत्कृत हो उठते हैं। इसी प्रकार स्वम्भावती द्वारा ब्रह्मा की अर्चना उस पौराणिक कथा की याद दिलाती है जिसमें स्रष्टा अपनी ही कृति पर मुग्ध हो उठा था। बिलावल उस नारी का रूप चित्रित करता है जिसमें वह दर्पण में अपने ही रूप को देख कर मुग्ध हो उठी है। परिणामतः उसमें प्रेम की वेदना जग गई है। मालकोश प्रेमी-प्रेमिका के आनन्द को अंकित करता है। रागिनियों में भैरवी सबसे अधिक चित्रित हुई है। इसमें गौरी की भांति उस अविवाहित नारी का अंकन होता है जो स्वप्न में अपने प्रेमी से संयुक्त हो चुकी है और जो उसकी उपलब्धि के लिए पूजा में रत है।

विविध रागों का सम्बन्ध विविध ऋतुओं से है, जिनसे सम्बद्ध भाव उन्हें तरंगित करते हैं। इन रागों के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स का वक्तव्य बहुत सुन्दर है : "चित्रकार पतझड़ के सौन्दर्य, वसन्त के कुसुम-निचय और उल्लास, ग्रीष्म के आलस्य, और वर्षा की ताजगी की अपनी रेखाओं द्वारा समुचित याद दिला देते हैं। भैरव, मालव, श्री राग, हिंडोल अथवा वसन्त, दीपक और मेघ के परिवार की कल्पना ग्रीकों की प्रतिभा में न उठ सकी। ये छः राग छः ऋतुओं के प्रतीक हैं और इनमें से प्रत्येक की पांच रागिनियां हैं जो कलाकार की मेधा के विभिन्न काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करती हैं।"

भारतीय चित्र कला की पहाड़ी कलम राजस्थानी भाव-तत्त्व से ही निर्मित हुई। जम्मू, बसौली, चम्बा, नूरपुर, कांगड़ा, कुल्लू, मंडी और सुकेत में इस कलम का राज रहा। पहाड़ी कलम की गढ़वाल शाखा (अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी) कांगड़ा शाखा से काफी मिलती है। पहाड़ी कलम में कृष्ण की बाल-लीला और राधा के साथ प्रणय-लीला अंकित होती है। इस कलम की विशेषता वन-प्रान्त में नृत्य और गायन का अंकन है। बसौली कलम में उत्सुक भावों का प्रदर्शन चमकीली वर्ण-परम्परा से किया जाता है। चमकती रेखाओं से घिरी आकृतियां तेज़ रंग से चित्रित होती हैं। पहाड़ी कलम में बसौली चित्रों की गति और शक्ति का विशेष स्थान है। कांगड़ा के चित्रों में मुगल चित्रों की सूक्ष्मता है। उनकी रेखाएं सुकुमार और तरल होती हैं, विशेषकर नारी-आकृतियों का इनमें अद्भुत अंकन है।

मुगल : भारतीय राजनीति में मुगलों का आगमन क्रान्तिकारी हुआ, परन्तु उससे कहीं बढ़ कर क्रान्ति उनके सम्पर्क से कला के क्षेत्र में हुई। अत्यन्त प्राचीन काल के अजन्ता आदि के चित्रों को छोड़, पिछले काल के चित्रों में इतनी सुकुमारता और इतनी सफ़ाई कभी नहीं आई। मुगल बादशाह कला के संरक्षक थे और उनके सम्पर्क से वास्तु-चित्रण और अन्य कलाओं में अद्भुत प्रगति हुई। उनमें सब से महान अकबर ने अपनी संरक्षा में चित्र

कला को विशेष प्रकार से पनपाया। उसके उत्साह से इस क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई। गुजरात और राजपूताना के, भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के, चित्रकारों को उसने संस्कृत और फारसी की पांडुलिपियां चित्रित करने के लिए आमन्त्रित किया। अनेक पांडुलिपियां इन चित्रकारों की मेधा से चमत्कृत हो उठीं। तैमूर वंश के इतिहास का चित्रण इन्हीं ने किया। उसकी मूल पांडुलिपि बांकीपुर के खुदाबख्श संग्रहालय में सुरक्षित है। अकबर की महाभारत की अपनी पांडुलिपि "रज़्मा-नामा" के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें १६६ चित्रों का संग्रह है। यह जयपुर में संगृहीत है। इसी प्रकार प्रेम-कहानियों का चित्रण करने वाला "हम्ज़ा-नामा" है, जिसके लिए अकबर ने कपड़े पर १,३७५ चित्र बनवाए। इसी प्रकार रामायण, अकबरनामा, यारेदानिश आदि की पांडुलिपियां अनेक चित्रकारों के सम्मिलित योग से चित्रित हुई हैं। मुगल कला चोटी की कला है, जिसमें राजस्थानी और ईरानी चित्रण-कला के सुन्दरतम अवयव एकत्रित हैं। दोनों का संयोग अद्भुत बन पड़ा है। यह भारतीय और ईरानी कला का मधु-मेल मुगलों की भारत को देन है। मुगलों ने इस देश को अपना समझा और अपनी संरक्षकता और प्रोत्साहन से उन्होंने इस कला-कृतियों से भरा-पूरा। मुगल चित्रण विशेषतः पांडुलिपियों के अनुकरण और आकृति-अंकन में सफल हुआ। उसकी शैली विशेषतः नागर शैली है जिसमें दरबारों और महलों, बादशाहों और अमीरों का चित्रण इष्ट था। गुजरात और राजस्थानी कलम की भांति इसमें भी मुख का अंकन, विशेषतः नारी मुख का, आदर्श रूप में अभिन्न रूप में हुआ, एक ही मुख आकृति में बार-बार उतरा। फिर भी वास्तविक ऐतिहासिक प्रतिकृतियों में निश्चय विभिन्नता आती गई। रेखा और वर्ण की दक्षता और चित्रण की सुकुमारता जितनी इस कला में है उतनी और कहीं नहीं।

जहांगीर ने चित्र-कला को अकबर से भी अधिक प्रोत्साहित किया। उसकी संरक्षकता में अनेक चित्रकारों ने उन्नति की। वह स्वयं इस कला की समीक्षा में अप्रतिम था। उसका दावा था कि "मैं चित्रों का बड़ा प्रेमी हूँ और मुझे उनकी इतनी परख है कि मैं उनके चित्रकारों के नाम बिना कहे बता सकता हूं। यदि एक ही विषय के चित्र अनेक चित्रकारों द्वारा बना कर मेरे सामने प्रस्तुत हों तो मैं उनके कलाकारों के नाम बता सकता हूँ।" रंग और रेखा की सुकुमारतम मुगल कृतियां जहांगीर के राज्यकाल की हैं। इनमें से अधिकतर ऐसी हैं जिनमें उसी के जीवन की घटनाएं अंकित हैं। उसे जानवरों और पक्षियों से बड़ा प्रेम था और उनके अनेक अद्भुत चित्र उस्ताद मंसूर ने उसकी प्रेरणा से प्रस्तुत किए थे।

शाहजहां का नाम वास्तु कला की सुन्दरतम कृतियों से सम्बन्धित है। यद्यपि उसे चित्र-कला से उतना प्रेम न था और उस कला को उससे प्रोत्साहन भी न मिला, फिर भी चित्रकारों की विशेष क्षति न हुई और वे पूर्ववत् अपने अभिराम चित्र बनाते रहे। इसमें संदेह नहीं कि शाहजहां-कालीन चित्रों में जहांगीर-कालीन चित्रों की तरलता कुछ कुंठित हो गई है, फिर भी उनमें प्रतिभा या सौन्दर्य की कमी नहीं। अमीरों और सन्तों के विशेष चित्र तो इसी काल में बने। दरबारों का चित्रण भी काफी हुआ।

औरंगजेब को कला से प्रेम न था। उसके समय में चित्र-कला को बड़ी क्षति पहुंची। चित्रकारों के ऊपर से उसने मुगल दरबार की संरक्षा हटा ली और उनको स्थानीय दरबारों की शरण लेनी पड़ी। पिछले मुगल-काल की कृतियों में बादशाहों और अमीरों की आपान-क्रीड़ा के ही अधिक चित्रण मिलते हैं। संगीत और सुन्दरियां उनके उद्दीपक विषय हैं।

मुगल कला अभिजातकुलीय थी। उसमें यथार्थता की पृष्ठभूमि पर मर्यादित वर्णांकन से सुकुमार और तरल कला निखरी। सुरुचि और सफ़ाई से उस काल के कलाकारों ने जिस प्रतिभा से, जिस

दक्षता और लगन से उनको प्रस्तुत किया उसकी सराहना संसार के सभी कला-समीक्षकों ने की है।

मुगल कलम की शाखाएं भारत के अन्य दरबारों में भी लगीं और पनपीं। गोलकुण्डा और बीजापुर के दरबारों में सत्रहवीं शताब्दी में जिस कलम ने विशेष प्रगति की उसे दक्कनी कलम कहते हैं। उन दरबारों में भी दरबारी और राग मालाओं के सुन्दरतम चित्र बने और पांडुलिपियां चित्रकारों के आकर्षक अंकनों से सजीं। इस काल में कनवस के ऊपर भी काफी बड़े आकार में चित्र बनाने के कुछ सफल प्रयत्न हुए।

बुनने की कला

अठारहवीं शताब्दी तक, प्रायः दो हज़ार वर्षों तक, दुनिया में भारत के वस्त्रों की सदा मांग रही है। ऋग्वेद में "हिरण्य द्रापी" नाम के एक चमकते सुनहरे वस्त्र का उल्लेख है और महाभारत में "मणिचीर" सम्भवतः उस बुनावट को कहा गया है जिसके किनारे मोती की झालरों से टंके होते थे। बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट में भी "शिन्तु" उस वस्त्र को कहा गया है जो सम्भवतः सिन्धु सभ्यता से दजला-फरात की घाटी में पहुंचा था। पाली साहित्य में बुनावट की कला के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उसमें बनारस के प्रसिद्ध वस्त्र 'कौशेयक' का भी हवाला है, जिसका मूल्य एक लाख रुपया था। उस साहित्य में गंधार के तेज़ लाल रंग के उन ऊनी कम्बलों का भी जिक्र है जो आज भी स्वात की घाटी में बनते हैं। भारतीय रेशम और मलमल रोम में 'बुनी वायु' के नाम से आदृत होते थे और राष्ट्रीय आन्दोलन के बावजूद रोम के राजनीतिज्ञ अपने देश में उनका आना न रोक सके। गुप्तकालीन महाकवि कालिदास ने विवाह के वस्त्रों को 'हंसचिन्हित दुकूल' कहा है जिससे उनमें हंस की डिज़ाइन बुने होने का प्रमाण मिलता है। सातवीं शताब्दी के कवि बाण ने कीमती वस्त्रों में कई प्रकार के छपने वाले डिज़ाइनों का उल्लेख किया है। उसकी कृतियों में सांप की केंचुल के से महीन सूती और रेशमी और मोती की झालरों वाले वस्त्रों के अनेक हवाले मिलते हैं। दसवीं शताब्दी में गुजरात में बुने वस्त्र अरब सौदागर मिस्र को ले गए। इनके कुछ सुन्दर नमूनों में आखेट के दृश्य और हंस की आकृतियां बुनी हुई हैं। ये वस्त्र मिस्र की पुरानी राजधानी फोस्तात में मिले हैं। गुजरात की प्रसिद्ध 'पटोला' रेशम की साड़ियां इतनी सुन्दर होती थीं कि उनकी मांग जावा और बाली के नगरों में भी थी।

पठान सल्तनत की संरक्षा में सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत की वस्त्र-कला तो फूलती ही फलती रही, परन्तु उसके बाद मुगलों के प्रोत्साहन से तो उसमें एक विशेष सुरुचि उत्पन्न हुई और उसमें अभूतपूर्व उन्नति हुई। सुनहरे और रुपहले कमखाब और जरी, महीन मलमल, और अनन्त डिज़ाइनों वाले वस्त्र मुगल साम्राज्य की संरक्षा में बनने लगे। इस कला में चित्र कला की ही भांति अकबर और जहांगीर दोनों ने तत्परता दिखाई। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों के वस्त्र आदि अत्यन्त अल्प मात्रा में उपलब्ध हैं परन्तु उनकी बुनावट और डिज़ाइनों की सुन्दरता और उनकी सामग्री की बहुमूल्यता मुगल तथा राजस्थानी चित्रों में आज भी देखी जा सकती हैं।

मलमल : भारत में अनेक प्रकार के वस्त्र बनते हैं। इनमें से कुछ तो पुरुषों के लिये होते हैं, जैसे धोती दुपट्टा आदि, और कुछ स्त्रियों के लिए जैसे साड़ी आदि। इनके अतिरिक्त कमर के दरबारी फेंटे, पगड़ी आदि के लिए भी वस्त्र बुना जाता है। इन वस्त्रों में सबसे मूल्यवान और असाधारण ढाका की मलमल थी जिसकी बारीकी, कताई, बुनाई, कढ़ाई और धुलाई अद्भुत होती थी। इस विषय के असामान्य जानकार वाट्सन के शब्दों में ढाका के जुलाहों ने इस सम्बन्ध में जो दक्षता प्राप्त कर ली थी वह न तो भारत के किसी अन्य प्रान्त में प्राप्य थी और न विदेश में। सब से महीन

और कीमती वस्त्र का थान राजघरानों के इस्तेमाल के लिए बांस के खोखले टुकड़ों में बन्द कर दिया जाता था और तब नगर में उसका जुलूस निकाल कर उसे दिल्ली के शाही दरबार में भेजा जाता था। इस मलमल को 'मलमल खास' कहते थे जिसकी बारीकी और सुन्दरता के कारण उसके अनेक नाम पड़ गए थे। इनमें से कुछ नाम 'आबेरवां' (बहता पानी), 'बफ्त हवा' (बुनी हवा) और 'शबनम' थे। ढाका के करघों पर तैयार की हुई मलमल में सब से ऊंचा स्थान 'जामदानी' का था। इसकी बारीकी और खूबसूरती की बेहद तारीफ की गई है। दिल्ली दरबार के इस्तेमाल के लिए इस प्रकार की जो मलमल तैयार होती थी उसके ७५ गज़ की तौल केवल पौने दो रत्ती हुआ करती थी। जुलाहा महीने भर सारी सुबह लगा कर करीब ६० रत्ती वज़न का सूत कात लेता था। मलमल बुनने की सबसे अच्छी ऋतु वर्षा होती थी। साधारण मलमल का थान २० गज़ लम्बा और एक गज़ चौड़ा होता था। कीमती 'मलमल खास' का आधा थान बुनने में पांच-छः महीने लग जाते थे। कहा जाता है कि ढाका का सूत मशीन के कते सूत से कहीं मज़बूत और टिकाऊ होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः अन्त तक ढाका के जुलाहे जो मलमल बुन देते थे उसकी बारीकी और सफ़ाई का मुकाबला दुनिया के किसी हिस्से में न हो सकता था।

पटोला : पटोला रेशम या गुजरात की विवाह की साड़ियां बुनावट की कला में एक अचरज हैं। पहले जुलाहा मन में डिज़ाइन बिठा लेता है फिर ताने और बाने को अलग-अलग रंग कर सोची हुई लम्बाई चौड़ाई के अनुकूल करघे पर डालकर इस तरह उनको बुनता है कि दोनों ओर डिज़ाइन निकलती आती है। यह बुनावट बड़ी कठिन है, पर रंगीन डिज़ाइनों की सुन्दरता सराहनीय होती है। जो डिज़ाइन बनकर पसन्द आ जाती है उसकी परम्परा चल पड़ती है और वह बार-बार बुनी जाती है। पटोला की दो किस्में खम्भात और पाटन के नाम से मशहूर हैं। इनमें से पहली फैले हुए बेलबूटों के रूप में गहरी हरी डंठलों पर सफ़ेद फूल की डिज़ाइन में बुनी जाती है। दूसरी बिना बेल-बूटों के मनुष्य, हाथी आदि की आकृति के साथ बनती है। पाटन की किस्म में चिड़ियों और गमलों की डिज़ाइनें प्रायः होती हैं।

कमखाब : भारतीय कमखाब की अनेक किस्में हैं जिनमें ताने और बाने के सूतों को अनेक प्रकार के रंगों से रंग कर डिज़ाइनें बुनी जाती हैं। ये डिज़ाइनें बुनावट के सामने की ओर एक तरह की और पीछे दूसरी तरह की दीखती हैं। वास्तविक कमखाब वह कहलाता है जिसमें सुनहरे तारों का इस्तेमाल कसरत से होता है, बाकी शुद्ध रेशम का कमखाब 'अमरूस' कहलाता है। कमखाब का शाब्दिक अर्थ है बुना हुआ फूल, अरबी में 'किमे' फूल को और 'खाब' बुनने को कहते हैं। कमखाब हिन्दुस्तान का सब से कीमती और अद्भुत वस्त्र है। कमखाब बुनने में जिन सुनहरे और रुपहले तारों का इस्तेमाल होता है वे रेशमी सूत के चारों ओर ऐंठ कर बनते हैं। यह महत्व की बात है कि भारतीय कमखाब के सुनहरे और रुपहले तार शताब्दियों बाद भी अपनी चमक नहीं खोते। नाना रंगों और फूल की डिज़ाइनों से कढ़ा कमखाब बनारस में प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। आखेट के चित्रों (शिकारगाह) से चमकता बनारसी कमखाब अच्छा माना जाता था। बनारस के अतिरिक्त कमखाब बनाने के अन्य भी अनेक केन्द्र थे। मुर्शिदाबाद, चन्देरी, औरंगाबाद अहमदाबाद, सूरत और तंजोर में भी कमखाब काफी बनता था।

चुनरी : चुनरी और बंधनू की रंगाई राजपूताना, विशेषकर सांगानेर और गुजरात में अद्भुत सुन्दरता से की जाती थी। अनेक रंगों की छींटों से इनकी डिज़ाइनें बनती थीं। इन बंधनुओं की रंगाई में नाचती नारियों और सुन्दर जानवरों की

भी कितनी ही डिज़ाइनें बनती थीं। यह भारत का प्राचीन पहनावा है जो अब भी गांवों में जीवित है। गुजराती किस्म में ज़मीन शिकारगाह और गर्बा नाचती औरतों की शक्लों से भरी होती है और आंचल और किनारे नाना प्रकार के फूलों की आकृतियों से।

छपाई का काम भारत में बहुत प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। आर्य और सम्भवतः महाभारत के काल से ही दुनिया में भारतीय छींटें प्रसिद्ध हैं। मछलीपट्टम के पलंगपोश अद्भुत होते हैं और उनमें चित्रित कला कालीनों के जोड़ की होती है।

भारत में कढ़ाई का काम भी बड़ी दक्षता से होता आया है। कश्मीर के शाल, लाल ज़मीन पर रेशम से कढ़ी पंजाब की 'फुलकारी चादरें', काठियावाड़ के शीशेदार शीशे के टुकड़े जड़ी कुर्ती और घाघरे आदि और चम्बा के सुन्दर डिज़ाइनों से बुने रूमाल प्रसिद्ध हैं। लखनऊ की चिकन और काठियावाड़-कच्छ की जंज़ीरी कढ़ाई सुई की महीनी में बेजोड़ है। काठियावाड़ और कच्छ की कढ़ाई में मोरों की आकृतियां और खेत में फैले फूलों की क्यारियां डिज़ाइनों के रूप में काढ़ी जाती हैं। उनकी एक विशिष्ट डिज़ाइन में कमल और तोते के चित्र बनते हैं।

कश्मीर में करघे और हाथ दोनों से ऊनी शालों पर कढ़ाई होती है। उनकी सुन्दरता जगत् प्रसिद्ध है। उनमें हाशिया पूरी लम्बाई में छूटा होता है और दोनों पल्ले बूटों से भरे होते हैं। उनके कोनों में अनेक प्रकार के फूल चित्रित होते हैं। इन शालों की बारीकी हिन्दुस्तान की कला का उत्कृष्ट नमूना है।

प्रतिकृतियाँ

मोहनजोदड़ो,
नर्तकी

हड़प्पा,
नर-मूर्ति-खण्ड
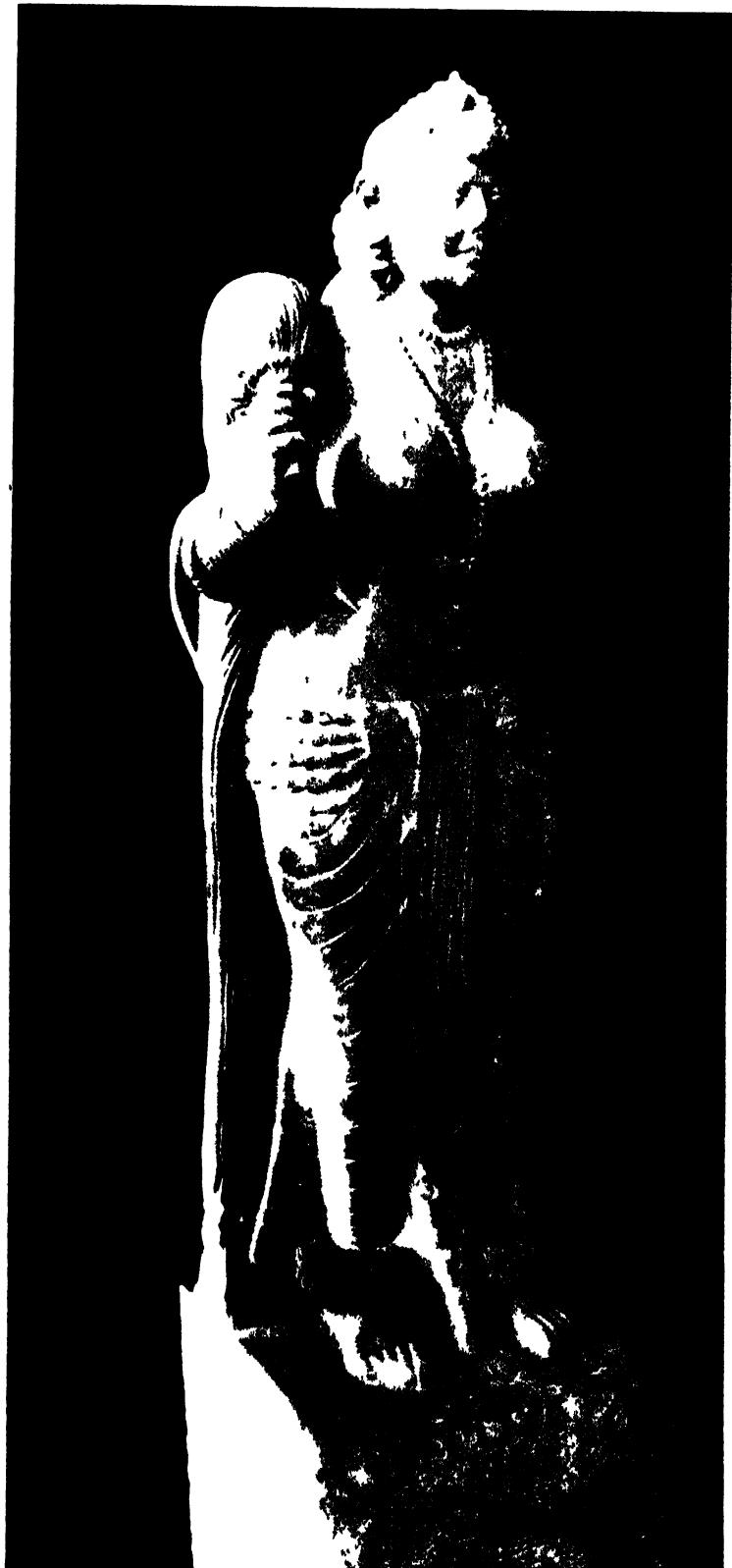
दीदारगंज यक्षी

भाजा गुफाओं में नर्तक युग्म.
(पहली शताब्दी ई० पू०)

मथुरा. आपान दृश्य.
(दूसरी शताब्दी)

भरहुत स्तम्भ :
चुलकोका देवता

मथुरा, वेदिका स्तम्भ :
झरने में स्नान करती हुई लड़की,
(दूसरी शताब्दी)

मथुरा, वेदिका स्तम्भ :
स्त्री और तोता.
(दूसरी शताब्दी)

मथुरा. बुद्ध प्रतिमा. भारतीय कला का स्वर्ण युग.
(५ वीं शताब्दी)

सुन्दर केश विन्यासयुक्त नारी मुख (लगभग ५ वीं शताब्दी)

अहिच्छत्र, पार्वती का मस्तक, गुप्त काल.
(लगभग ५ वीं शताब्दी)

माता, शिशु को दुलार करते हुए, भुवनेश्वर मन्दिर (११ वीं शताब्दी)

मैसूर. शिकारिणी. होयसल कला.
(१२ वीं शताब्दी)

बीकानेर. संगमरमर की सरस्वती की प्रतिमा.
(१३ वीं शताब्दी)

चोल राजमहिषी.
(१२ वीं शताब्दी)

दक्षिण भारत से प्राप्त पार्वती की प्रतिमा (लगभग १२ वीं शताब्दी)

नटराज शिव, मद्रास म्यूज़ियम (१२ वीं शताब्दी)

राग वसन्त : होलिकोत्सव में कृष्ण का नृत्य, राजस्थानी (जोधपुर स्कूल)
(१७ वीं शताब्दी का आरम्भ)

रागिनी भैरवी : अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करने के लिये
स्त्री की देवोपासना (१७ वीं शताब्दी)

रागिनी देशकार : प्रेमी. मिश्रित राजपूत-मुग़ल शैली.
(१७ वीं शताब्दी का मध्य भाग, जहांगीर का समय)

उत्कंठिता नायिका, मालीराम कृत १८ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग

राधा और कृष्ण (१८ वीं शताब्दी)

एक वाटिका में राजकुमारी, पहाड़ी चित्र कला की बसोली कलम (१७ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग)

मुगल राजकुमारियां चौगान खेलते हुए. मुगल चित्र कला

गोप गोपियों के साथ नंद का अभियान. कांगड़ा कलम (१८ वीं शताब्दी)
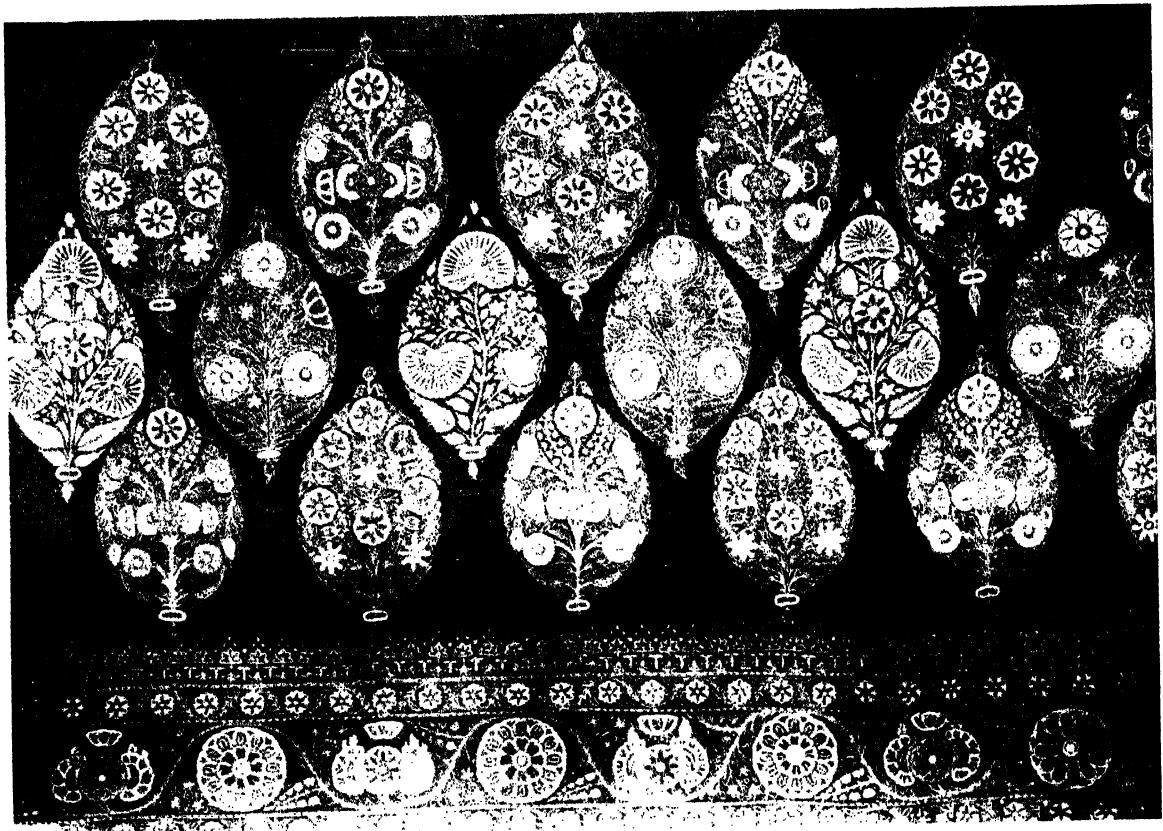
तकदीर बनाम तदबीर : रज़्मनामा से एक दृश्य : सन्त मनकी अपने दो बैलों को एक ऊंट के पांव तले कुचले जाते हुए देख रहे हैं (अकबर का समय)

जहाँगीरी दरबार, मुग़ल कलम (१७ वीं शताब्दी)

कच्छ का चिकन का काम (१९ वीं शताब्दी)
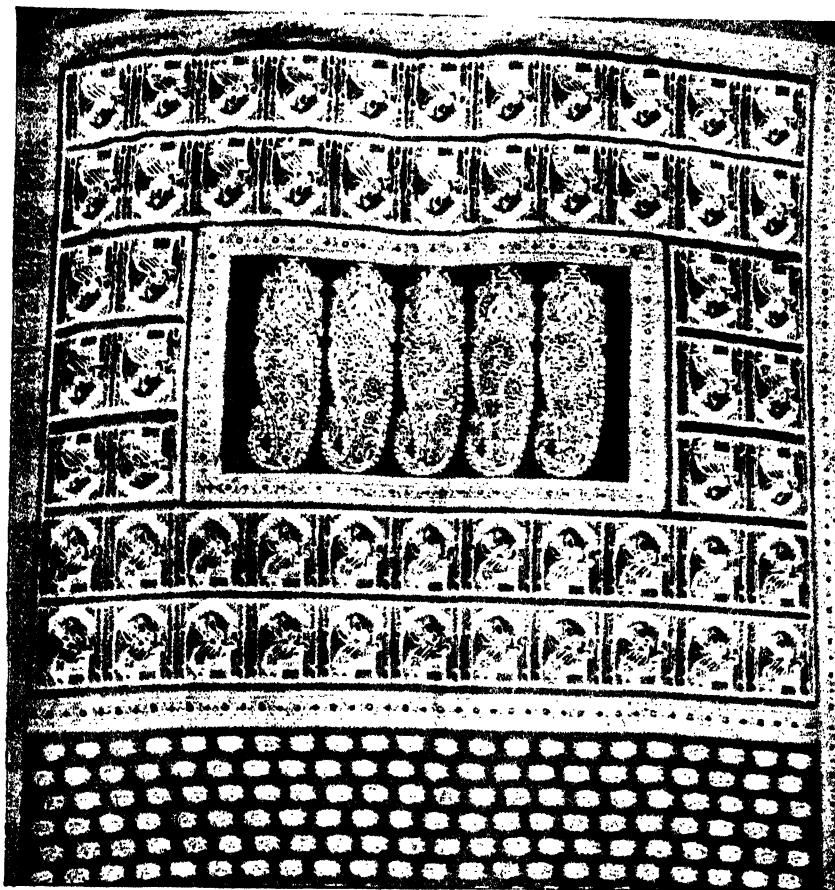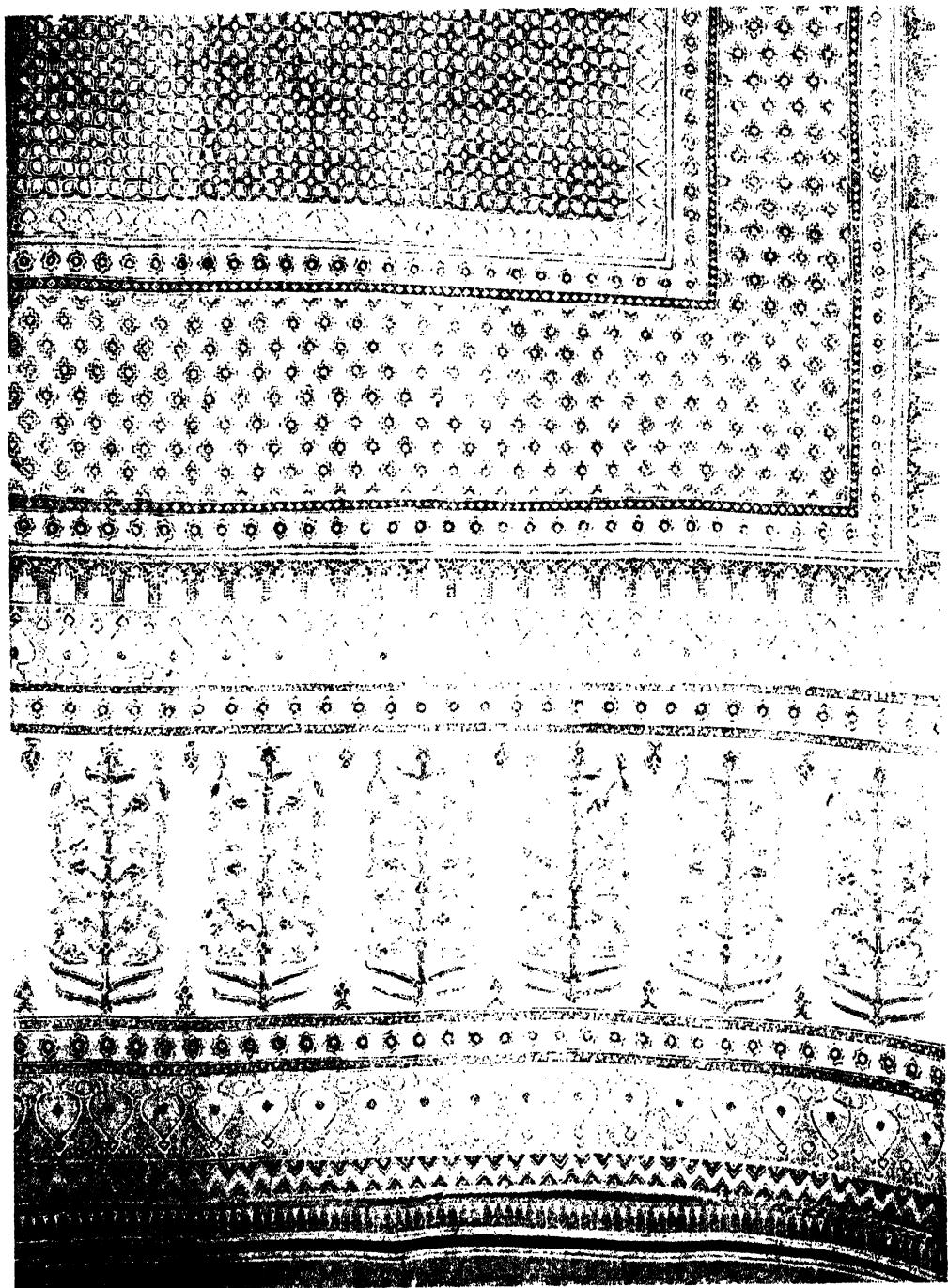
चम्बा रूमाल, जिस पर कृष्ण का वेणु-वादन चित्रित किया गया है (१८ वीं शताब्दी)

उड़ीसा की कमीदार गद्दी (१८ वीं शताब्दी)
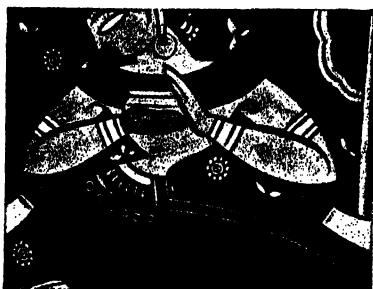
मुर्शिदाबाद की रेशमी साड़ी (१८ वीं शताब्दी)

तंजोर की रेशमी साड़ी (१८ वीं शताब्दी)

आधुनिक

गोपी : यामिनी राय

नवीन आरम्भ

१९वीं शताब्दी में इस देश की ललित कला परम्परा में उत्तरोत्तर ह्रास परिलक्षित हुआ।

सन १९०५ में धर्मशाला के भूकम्प द्वारा कांगड़ा, वहां के निवासियों तथा वहां के चित्रकारों के विनाश के बहुत पहले ही पहाड़ी चित्रकला शैली की रचनात्मक शक्ति समाप्त हो चुकी थी। यह वह शैली थी जिसकी कोमलता और रंग प्रियता अद्वितीय थी और जो जनता के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती थी। उपर्युक्त ह्रास के बाद भी शहरी केन्द्रों में चित्रण कला पनपती रही, परन्तु जहां तक शैली और पद्धति का सम्बन्ध था, उक्त चित्रण अतीत की उन सुन्दर परम्पराओं की सुन्दरता को न छू पाया जिनके अनुकरण का प्रयत्न वह कर रहा था। ललित कला की जिस परम्परा का आरम्भ इस देश में प्रायः दो सहस्र वर्ष पहले हुआ था, उसके अवशिष्ट चिन्हों के रूप में जो कुछ बच रहा था वह था मुगल वंश वालों द्वारा चित्रित रूढ़िगत कृतियां, जिनका अंकन दिल्ली में आज भी होता है, लखनऊ के सजावट से लदे चित्र जो अवध के नवाबों की पतनोन्मुख अवस्था को प्रतिबिम्बित करते हैं, पटना और कलकत्ता में एक अजीब वर्णसंकर शैली में यूरोपीय व्यापारियों के लिए आज्ञानुसार बनाए गए चित्र, तन्जोर के दरबारी चित्रकारों के कलापूर्ण परन्तु कल्पनाहीन चित्र, और मैसूर में हाथीदांत पर अंकित किए गए चित्र। जैसे जैसे उक्त शताब्दी समाप्त होती गई, उपर्युक्त प्रयास भी क्षीण होते गए।

कला-परम्परा के पुनर्जागरण की प्रेरणा हमें पश्चिम से मिली। इसका कारण जानने के लिए हमें राजनीतिक घटनाओं की ओर देखना होगा। और इसका भी कारण ऐतिहासिक घटनाचक्र ही था कि उक्त नव-जागरण की गति मन्द रही। कलकत्ता में, जहां विदेशी संस्कृति का प्रभाव सब से अधिक पड़ रहा था, सन १८५४ में 'कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स' की स्थापना हुई। उक्त संस्था की स्थापना निजी प्रयत्नों के रूप में औद्योगिक कला समिति (Industrial Art Society) के तत्वावधान में हुई। यह एक ऐसा समय था जब भारत ब्रिटेन के पूर्णतः अधीन था : लेकिन यह ऐसा भी समय था जब ब्रिटेन में सौन्दर्याभिरुचि और कला सम्बन्धी प्रवृत्तियां ह्रासोन्मुख थीं। तत्कालीन प्रचलित कलात्मक आदर्श केवल 'शास्त्रीय' थे। उन आदर्शों का आधार भावुकता, अतीत के प्रति भ्रामक आसक्ति और एक ऐसे भविष्य की ओर

प्रगति के प्रति आत्म-संतुष्ट दृष्टिकोण था, जिसमें भौतिक समृद्धि ही नैतिक और कलात्मक आचरणों का मूल स्रोत थी। इससे अंग्रेजों की कला-शिक्षा पर जो ह्रासोन्मुख प्रभाव पड़ा वह भारत में भी, उनके प्रभाव के कारण, परिलक्षित हुआ।

इस प्रकार 'कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स' में कला शिक्षा का जो पाठ्यक्रम रखा गया उसमें उपयोगी कलाओं पर अधिक बल दिया गया। इस प्रकार का कोई भी विभाजन सामान्यतः कला के विकास के लिए अनुकूल नहीं सिद्ध होता। उक्त उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत यूरोपीय पद्धतियों पर सजावटपूर्ण चित्रांकन काठ-खुदाई, प्रस्तर-अंकन और फोटोग्राफी थे।

इस अल्पावधि में राजा रविवर्मा का व्यक्तित्व सब से अधिक महत्वपूर्ण रहा है। राजा रविवर्मा को उनकी पाश्चात्य-प्रियता के कारण पुनर्जागरण चाहने वाले बंगाल के कला-प्रेमी बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। उन्हें आज के नवीन कलाकार भी पसन्द नहीं करते क्योंकि ये कलाकार अभिव्यक्ति के नए रूपों के प्रेमी हैं। तथापि राजा रविवर्मा की सफलताएं कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उनके द्वारा कुशलतापूर्वक चित्रित पौराणिक कथा-चित्रों की प्रतिलिपियां, जिनकी तुलना में प्रचलित कला-शैलियों के नरक तथा अन्य ऐसे ही विषयों के अविश्वनीय रूप से वीभत्स और विकृत चित्र बिल्कुल ही न ठहरते थे, काफी लोक-प्रिय हुई और उनसे चित्रांकन का एक न्यूनतम मानदण्ड निर्धारित होने में सहायता मिली। उनकी प्राण-पूर्ण नारी आकृतियों को देखकर रुबेन्स अथवा टिशियन की याद आ जाती है। इन आकृतियों में किसी प्रकार का वीभत्स अन्तर्दर्शन अथवा कृत्रिमता नहीं थी, जैसा कि पुनर्जागरण काल के कतिपय कल्पनाहीन कलाकारों में था। उनके द्वारा चित्रित मुखाकृतियां और मूल आकृतियां, यथा त्रिवेन्द्रम् के श्री चित्रालयम् का 'भिक्षुणी' चित्र, बड़ी ही उच्च कोटि की कला कृतियां हैं।

एक दूसरे ऐतिहासिक संयोगवश, जो एक सुन्दर संयोग था, दो अंग्रेजों ने भारतीय कला की अद्वितीय सेवा की और उस ह्रास की बहुत कुछ क्षति-पूर्ति कर दी जो कला के क्षेत्र में पश्चिमी विचारों के भौंडे और बलात् ग्रहण से, और विशेषतः भारतीय और पश्चिमी परम्पराओं के सापेक्षिक गुणों के तत्कालीन पाश्चात्य ढंग के विवेचन से, उत्पन्न हुआ था। इनमें से एक लार्ड कर्ज़न थे, जिन्होंने भारतीय कला और भारत के प्राचीन स्मारकों की खोज तथा संरक्षण के प्रति बड़ा उत्साह दिखाया। परन्तु कला के पुनर्जागरण की दिशा में सब से अधिक कार्य ई० बी० हैवेल ने किया, जो 'कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स' के मुख्याध्यापक थे। हैवेल ने इस बात को स्पष्ट रूप से समझा कि एक विकसित होती हुई परम्परा को अपनाने के बजाय अगर भारतीय कलाकार केवल ऐसी पश्चिमी कला के अनुकरणकर्ता बन जाएंगे जिसके पीछे किसी प्रकार की गहरी प्रेरणा नहीं है, तो इससे उन्हें कोई लाभ न होगा। भारतीय कला-परम्परा इस देश के प्राणों में समाई हुई है। उसका अतीत गौरव-शाली रहा है और उसका भविष्य महान् बनेगा, बशर्ते कि रचनात्मक कलाकारों का समर्थन उसे प्राप्त हो जाए।

हैवेल ने दो दिशाओं में कार्य किया। एक ओर तो उन्होंने विश्व को भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का आदर करना सिखाया और दूसरी ओर नवोदित भारतीय कलाकारों को प्रेरित किया कि वे पाश्चात्य कला और विशेष रूप से उस कला की ह्रासोन्मुख और प्रेरणाहीन कृतियों के अंध सम्मान से बचें। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय कला-परम्पराओं के विषय में निरन्तर लेख लिखे और उनकी सहायता विदेश में रहते हुए स्वर्गीय डा० आनन्द कुमार स्वामी ने, जो भारतीय कला के सब से बड़े प्रामाणिक अधिकारी थे, की। नवोदित कलाकारों को भारतीय कला-परम्परा की ओर उन्मुख करने का कार्य 'इन्डियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट' (पूर्वी कला विषयक भारतीय समिति) के सुयोग्य समर्थन द्वारा कुशलतापूर्वक होने लगा।

हैवेल के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निश्चित व्यावहारिक योगदान देने वालों में अवनीन्द्रनाथ

ठाकुर का नाम सर्वोपरि है। वे एक गुणी परिवार के सदस्य थे। इस परिवार के सदस्यों ने ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में यथेष्ट नाम कमाया था। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के इर्द-गिर्द नवयुवक चित्रकारों का एक समूह जुट गया। इसी समूह के चित्रों और लेखों द्वारा, जिसे हम बंगाल का कला के पुनर्जागरण का आन्दोलन कहते हैं, उसे शास्त्रीय और व्यावहारिक रूप मिला। इस का आरम्भ करने वाले इस शताब्दी के प्रथम दशक में क्रियाशील ये कुछ नवयुवक ही थे।

बंगाल का पुनर्जागरण-आन्दोलन

भारतीय कला परम्परा के पुनर्जागरण के लिए उत्सुक कलाकारों ने प्रेरणा के लिए अजन्ता के मनोहर चित्रों की ओर नज़र डाली। कुछ अन्य कलाकारों ने मुगल और बाद में राजपूत तथा पहाड़ी लघु-चित्रों को अपना आदर्श बनाया। पृष्ठभूमि का यथावत् चित्रण, यथार्थ के सादृश्य पर जोर आदि पाश्चात्य चित्रण की विशेषताओं को त्याग दिया गया। पौराणिक और अन्य उच्च कोटि के साहित्य जैसे, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, कालिदास और उमर खैयाम की रुबाइयों तथा भारतीय इतिहास की स्मरणीय घटनाओं आदि सभी स्रोतों से आदर्शमूलक विषयों को चुन कर कलाकारों ने उनमें अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा की। रेखाओं के सौन्दर्य और अतीत की कला-परम्परा की शक्तिमत्ता पर सब से अधिक बल दिया गया। प्रत्यक्ष विवरण, डिजाइन की सुकुमारता और इन सब से अधिक, एक अन्तर्निहित मूक काव्यात्मक भाव-भंगी के कारण इन चित्रों को एक प्रगीतात्मक सौन्दर्य मिला। ये चित्रण लय और प्रेरणा से युक्त हैं और पाश्चात्य सादृश्य-मूलक शैली से बहुत भिन्न हैं।

शैली के क्षेत्र में कलाकारों ने तैल-रंग चित्रण की यूरोपीय पद्धति को त्याग दिया और जल-रंग चित्रण को अपनाया। पूर्वी परम्परा पर बल देने के कारण कलाकारों ने चीन और जापान की चित्रण-कला और शैली का अध्ययन किया और उनसे प्रभाव ग्रहण किया।

इस वर्ग के कलाकारों का मुख्य उद्देश्य पूर्वी परम्परा का पुनरुद्धार था। परन्तु उक्त उद्देश्य का ध्यान रखते हुए भी कलाकार अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के विकास के प्रति उदासीन न थे। इस आन्दोलन के कुछ प्रवर्तकों की चर्चा हमें अलग अलग करनी होगी। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की कला में विभिन्न परम्पराओं -चीनी लेखन, जापानी वर्णिका भंग, फारसी परिमार्जन आदि सभी परम्पराओं का सुस्पष्ट वैयक्तिक समन्वय पाया जाता है। उनके द्वारा चुने गए विषयों में भारतीय संस्कृति का ऐसा समन्वय प्रतिबिम्बित है, जिसमें अजन्ता के भित्ति-चित्रों की स्मृति और संगमर्मर पर मुगल स्वप्न--ताजमहल--समान रूप से सजग हो उठे हैं। नन्दलाल बसु में कला परम्पराओं को आत्मसात् करने की असीम क्षमता है। उन्होंने अजन्ता में पद्मपाणि का चित्रण करने वाले बौद्ध कलाकारों से पूर्ण एकात्मीयता प्राप्त की है कालिदास के मेघदूत के दृश्यों का चित्रण करते हुए और स्वयं उसका बंगाली पद्य में अनुवाद करते हुए अमितकुमार हालदार ने तत्कालीन सौन्दर्य की झांकियां पुनः प्रस्तुत करने में यथेष्ट सफलता पाई है।

समरेन्द्रनाथ गुप्त की अभिरुचि ऐसे प्रगीतात्मक चित्रणों की ओर थी जिनमें प्रकाश और प्रकाश के स्रोत, मणि-रत्नों के समान जगमगा उठते हैं। उनकी इस विशेषता को अब्दुल रहमान चुगताई ने भी अपनाया। वेंकटप्पा का चित्रण सरल और पवित्र है, जो उनके साधु-स्वभाव को और नन्दलाल बसु के साथ उनके निकट सम्पर्क को प्रतिबिम्बित करता है। शारदाचरण उकील एक सौम्य स्वप्न-द्रष्टा हैं जिनके बड़ी संख्या में प्राप्त चित्रों में शान्त, प्रगीतात्मक और एक अनिर्वचनीय औदास्य भावना का संस्पर्श है। देवीप्रसाद राय चौधरी ने अपनी

कुशल तूलिका का प्रयोग एक ऐसी शैली के विकास के लिए किया जो पूर्वी और पश्चिमी पद्धतियों का समन्वय करती है। उन्होंने विभिन्न प्रकार की मानवी आकृतियों का अच्छा चित्रण किया है, जैसे भोटिया स्त्री, तिब्बती लड़की, लेपचा महिला आदि। इन चित्रों में बाह्य विवरणों के प्रति औत्सुक्य की गहरी भावना है और साथ ही इनमें एक ऐन्द्रिक सजावट-विशेष है, जो इस देश की धरती की अपनी विशेषता है। पुलिनबिहारी दत्त ने बड़े धैर्य और सचाई के साथ कला-साधना की है और सिद्धार्थ और मीरा की जीवन-कहानियों को हल्के रंगों और निर्दोष रेखाओं में फिर से उतारा है। प्रमोदकुमार चटर्जी ने एक आधुनिक कलाकार के रूप में कला-साधना आरम्भ की और हिमालय की यात्रा से लौटते हुए उनका मन गम्भीर चिन्तन में आप्लुत था। 'चन्द्रशेखर' और 'पुरुष और प्रकृति' उनके ऐसे चित्र हैं जिनमें उन्होंने महान प्रतीकों को समुचित दृश्य साधनों द्वारा व्यक्त किया है। क्षितीन्द्रनाथ मजुमदार रंग भरने की कला में एक अद्वितीय पारंगत कलाकार हैं और उन्होंने जिन विषयों को अपनाया है उनके लिए बड़ी कल्पनात्मक कोमलता और सुकुमारता अपेक्षित थी। उल्लेखनीय सफलताओं के कई दशक बीत जाने के बाद भी पुनर्जागरण आन्दोलन-कर्त्ता आज बिना किसी असहिष्णुता के और अत्यन्त प्रणत भाव से अपनी से भिन्न कला-शैली वालों की कला को सहर्ष स्वीकार करते हैं, और चाहे कुछ अधिक उत्साही आधुनिक कला के पक्षपाती आलोचक पुनर्जागरण-आन्दोलन का मूल्यांकन करते हुए कभी-कभी अविचार-पूर्ण बातें कह जाएं, पर इतिहासकार को यह स्मरण रखना होगा कि सारे देश में कला सम्बन्धी क्रियाशीलता को जाग्रत करने में हमें इसी केन्द्रीय स्रोत से प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला है। उक्त आन्दोलन के प्रवर्त्तक कलाकारों ने ही इस प्रायद्वीप के प्रायः सभी महत्वपूर्ण कला-विद्यालयों को कला-शिक्षक दिए। समरेन्द्रनाथ लाहौर के कला-विद्यालय के प्रिन्सिपल हुए और मुकुल दे कलकत्ता कला-विद्यालय के। शारदाचरण उकील ने नई दिल्ली में 'उकील कला विद्यालय' खोला। असितकुमार हालदार लखनऊ के कला विद्यालय के प्रिन्सिपल हुए और शैलेन डे जयपुर के कला-विद्यालय के वाइस-प्रिन्सिपल। प्रमोदकुमार चटर्जी ने ममुलीपट्टम की 'आन्ध्र जातीय कला-शाला' में शिक्षण-कार्य किया और वेंकटप्पा ने अनेक नवयुवक मैसूर-निवासियों को कला की शिक्षा दी। देवीप्रसाद राय चौधुरी मद्रास के कला और हस्तकला विद्यालय के प्रिन्सिपल हुए और पुलिनबिहारी दत्त बम्बई गए, जहां उन्होंने शिशु-कला समिति की स्थापना की और इस प्रकार पुरानी पीढ़ी की धरोहर नई पीढ़ी को सौंपी। नन्दलाल बसु शान्तिनिकेतन में हैं, जहां उन्होंने वर्ष-प्रतिवर्ष नवयुवक कलाकारों में से कुछ सर्वोत्तम प्रतिभाशाली कलाकारों का निर्माण किया है। और अगर सुरेन गंगोली तथा एस० डी० नटेसन की कला-साधना उनके असमय में काल-कवलित हो जाने से रुक न जाती, तो उन्होंने भी देश की कला के उत्थान के कार्य में सुचारु रूप से हाथ बटाया होता।

विश्ववाद

जब कि बंगाल के कलाकार परम्परा को आत्मसात् करने की आवश्यकता पर बल दे रहे थे, तब बम्बई के कलाकार और अधिक व्यापक शैली तथा अभिव्यक्तीकरण की बात उठा रहे थे। बम्बई एक बन्दरगाह है और ऐसे नगरों में विदेशियों के आवागमन के कारण विश्ववादी तत्वों की उपस्थिति स्वाभाविक होती है। बम्बई के कला-विद्यालय के संचालकों का यह कथन था कि कला आत्म-निर्भर नहीं हो सकती। उसे जनता की संरक्षा पर निर्भर होना पड़ेगा। और सभी संरक्षक यह न चाहेंगे कि वे जो चित्र बनवाते हैं उन्हें बंगाल शैली के अनुसार बनाया जाय। इसी प्रकार

'वाश' शैली में प्रत्येक विद्यार्थी कुशल नहीं हो सकता था और जो ऐसा कर भी सकते थे उनमें से बहुतों ने दूसरे माध्यम अपनाए। कुल मिला कर बम्बई कला-पीठ का यह अनुभव था कि बहुत से विद्यार्थी सभी शैलियों का अभ्यास करना चाहते हैं और किसी विषय विशेष को देख कर ही वे शैली विशेष का चुनाव करते हैं। उदाहरणार्थ वे एक भित्ति-चित्र या म्यूरल को जलरंग में, 'टेम्परा' में या तैलरंग में चित्रित कर सकते हैं: मानव आकृतियों के लिए वे बंगाल शैली के बजाय पाश्चात्य शैली अपना सकते हैं।

इस प्रकार बम्बई में यह अनुभव किया गया कि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पाश्चात्य शैली को भी अपना लेना लाभदायक होगा। इस सम्बन्ध में सन १६१६ के अन्त में बम्बई कला-विद्यालय में ऐसी कक्षाओं का आरम्भ हुआ जिनमें माडलों का सहारा लिया गया। लेकिन अधिकारियों को यह बात भली-भांति विदित थी कि शैली की दक्षता कला-शिक्षा का एक अंग मात्र है और यूरोप में भी माडलों का बहुत अधिक आधार लेने पर सच्ची कला-शिक्षा को बहुत क्षति पहुँची। भारत में, जहां लोगों का ध्यान अलंकरण की ओर विशेष था, और जहां आकृति-चित्रण की सम्भावनाओं को भली भांति समझा गया था, अधिकारियों को यह भय हुआ कि कहीं माडल के आधार पर कला की शिक्षा को आवश्यकता से अधिक बल न दिया जाने लगे। इसीलिए कला-शिक्षा के यथार्थवादी पक्ष के साथ-साथ उन्होंने भारतीय अलंकृत चित्रण की कक्षा भी खोली। इस प्रकार के संतुलन के कारण बम्बई और पुनर्जागरण शैलियों के बीच अन्तर बहुत कम हो गया यद्यपि विवाद उत्पन्न करने वालों ने उसको बहुत बढ़ा-चढ़ा कर रखना चाहा है। बम्बई को अजन्ता के जादू का परिचय मिल चुका था। भारत सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करके बम्बई कला-विद्यालय के कुछ विद्यार्थियों ने अपने प्रिंसिपल जान ग्रिफिथ्स की देख-रेख में भित्ति-चित्रों की प्रतिलिपियां तैयार करने का काम आरम्भ किया था जो दस साल तक चलता रहा। नई दिल्ली के सचिवालय में चित्रित भित्ति-चित्रों के पीछे यथार्थतः अजन्ता की प्रेरणा है। उन्हें बम्बई कला-विद्यालय के विद्यार्थियों ने बनाया है। एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र होने के कारण बम्बई में व्यापारिक कला का भी तेज़ी से विकास हुआ और इस नए क्षेत्र में बम्बई ने दक्षता का अच्छा स्तर प्राप्त किया।

इस बीच में बम्बई ने जिन कारणों से अनेक शैलियों को अपनाया था, उनका प्रभाव अन्य केन्द्रों पर भी पड़ा। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के एक समसामयिक कलाकार जे० पी० गंगोली का ध्यान अभिव्यक्तिमूलक चित्रण की ओर आकर्षित हुआ और बंगाल के कलाकारों ने इस परम्परा के अनेक ऐसे अनुयायियों का निर्माण किया जो बम्बई के कलाकारों के समान ही प्रतिभाशाली हुए। यदि कुछ नाम लिए जाएं तो हम कह सकते हैं कि चित्रकार शशि हेश, अतुल बसु और बसन्त गंगोली, मानव आकृति की कोमलता और लावण्य के चित्रकार हेमेन मजुमदार और सतीश सिन्हा और मूल आकृतियों के शक्तिशाली चित्रकार दिलीपदास गुप्त आदि विख्यात कलाकार हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कोई भी कला-शैली ऐसी नहीं है जो प्रादेशिक सीमाओं में बँधी हुई हो।

नवीन धारा

जब परम्परावाद और पाश्चात्य-धारा में संघर्ष चल रहा था, तब नवीन परिवर्तनों का कोई स्पष्ट रूप सामने नहीं आ पाया था। अभिव्यक्तिमूलक चित्रकारों को यह अनुभव न हो पाया था कि आधुनिकता केवल उन्हीं के विश्वासों तक सीमित नहीं है। वे यह भी न सोच सके थे कि कभी-कभी आधुनिकता को उनकी विचार-धारा की कोई अपेक्षा ही नहीं होती। दूसरी ओर बहुत कम परम्परा-वादी यह सोच पाए थे कि परम्परागत कला-रूपों को उसी प्रकार आधुनिक

ढंग से व्यक्त किया जा सकता है जिस प्रकार महान् आधुनिक कलाकार रूल्त ने, जबकि उसने गोथिक शैली के चित्रणों पर नया रंग चढ़ाया, किया। जब नवीन धारा की पहली झलक दिखाई दी तो उसका अर्थ यह नहीं था कि किसी एक पक्ष ने दूसरे पर विजय पाई। आधुनिकता का अर्थ यह था कि कुछ ऐसे कलाकारों ने, जिनके विषय में मोटे तौर पर कहा जा सकता था कि वे किसी एक कला-स्कूल के अनुयायी हैं, किन्हीं निर्धारित सिद्धान्तों या पद्धतियों का अनुकरण नहीं किया बल्कि ऐसे नए सिद्धान्तों की खोज की जिनका अनुकरण लाभदायक ढंग से किया जा सकता था।

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय और अमृता शेरगिल--आधुनिक भारतीय कला के ये चार महान् प्रवर्त्तक हैं। अपनी अत्यधिक सम्पन्न रचनात्मक कल्पना-शक्ति के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्रेरणा के लिए किसी प्रकार की पौराणिक या प्राचीन गाथाओं पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। उन्हें किसी प्रकार की नियमित कला-शिक्षा भी नहीं मिली थी। इसीलिए वे शैली-विषयक उन चिन्ताओं से मुक्त रहे जिनके कारण प्रायः हम अपने अन्तःस्वप्नों की अभिव्यक्ति में असफल रहते हैं। उनकी कला-कृतियां नितान्त सरल हैं, विशेष रूप से मानव मुखाकृतियां, और उनमें एक चिन्तनशील वैयक्तिकता और एक ऐसा प्रच्छन्न अर्थ-गाम्भीर्य है जो मानो अवचेतन की गहराइयों से उभर रहा है। उनकी कलाकृतियों से अभिव्यक्तिमूलक कला को यथेष्ट प्रतिष्ठा मिली है।

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर शैली की दृष्टि से अधिक कुशल कलाकार थे और उन्होंने अनुभव किया कि केवल 'वाश' शैली ही ऐसी नहीं थी जिसकी सम्भावनाएं अपार हों। अपने सम-सामयिकों की तुलना में उनकी कलाकृतियां काफी दिलचस्प हैं। उन्होंने सामाजिक यथार्थता का सामना किया और निर्बाध उँगलियों से अंकित श्वेत और श्याम रेखा-चित्रों में अनेक सामाजिक दुर्बलताओं पर व्यंग्य किया। उन्होंने 'क्यूबिस्ट' कला शैली के प्रयोग किए, प्रकाश की चित्रण सम्बन्धी सम्भावनाओं का, विशेष रूप से भीतरी दृश्यों के चित्रण के लिए, अध्ययन किया और अपने चित्र 'सात भाई चम्पा' में रूपों के एक पर एक चित्रण की शैली अपनाई, जिसे हम जार्ज कीट के चित्रों में भी पाते हैं, यद्यपि कीट की शैली का उद्‌गम वे चित्र नहीं हैं। पुनर्जागरण काल में रहते हुए भी उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र मार्ग निकाला और उन नौजवानों को आत्म-विश्वास प्रदान किया जो यह सोचते थे कि पुनर्जागरण-कालीन कला-रूपों को स्वीकार करने पर वे स्वतन्त्र अभिव्यक्ति से वंचित रह जाएंगे।

यामिनीराय ने एक प्राचीन परम्परा को नई रेखाओं में बांधा। पाश्चात्य शैली के आरम्भिक प्रयत्नों के बाद, जिनसे उन्हें बिल्कुल ही सन्तोष न हुआ, सन् १९२१ में आत्ममंथन के फलस्वरूप उनका जिस रूप में विकास हुआ उसमें एक अधिक शक्तिशाली और अभिव्यंजनापूर्ण शैली का विकास करने की तीव्र इच्छा उनमें जाग्रत हुई। पुनर्जागरण के कलाकारों के सिद्धान्त और पद्धति को वे पसन्द न कर सके, क्योंकि उन्होंने देखा कि वे कलाकार साहित्यिक परम्पराओं की ओर अधिक झुके हुए हैं, जिससे उनमें से अपेक्षाकृत कम प्रतिभा वाले कलाकारों को रूप-कल्पना के विषय में अपना रास्ता खोजने में कठिनाई होती थी। बांकुड़ा में औद्योगीकरण का प्रभाव होते हुए भी लोक-कला की परम्परा यथेष्ट बलवती थी। इसीलिए उन्होंने 'पट' और कुण्डलाकृति चित्रों से, मिट्टी के खिलौनों से, और गांव की साधारण कारीगरों की बर्तनों पर की गई सजावट से प्रेरणा प्राप्त की। अगर उनकी कला को उन स्रोतों से नवीन प्राण प्राप्त हुआ जहां लोक-कला परम्परा की धाराएं बहती हैं, तो उन्होंने अपने प्रयत्नों से उस प्रेरणा को एक नया रूप भी दिया। प्रायः एकही रंग के प्रयोग द्वारा शक्तिमत्ता प्राप्त करने वाली पिकासो के 'ग्रीक' काल की रेखाओं की विशुद्धता, रेखाओं के उतार-चढ़ाव का लाभ उठाकर अगणित

गीतिमय परिवर्तनों को चित्रित करने का प्रयत्न करते हुए भी अभिव्यक्तिमूलक शैली को अपनाए रहना, गहराई की छलना का परित्याग, चित्रण को समतल भूमि पर रंगीन क्षेत्रों का सूक्ष्म गठन समझने की प्रवृत्ति-ये सब विशेषताएं यामिनीराय को केवल लोक-कला के प्रसाद के रूप में ही नहीं मिली थीं। उन्होंने अभिव्यक्ति के जिस शक्तिशाली और सुसम्बद्ध रूप को अपनाया वह नवयुवक कलाकारों को लोक-कला की परम्परा से जोड़ने वाली कड़ी बन गया है—उस परम्परा से, जिससे उन्होंने स्वयं प्रेरणा ग्रहण की।

अमृता शेरगिल की मृत्यु सन् १६४१ में, जबकि, वे केवल २६ वर्ष की थीं, हो गई थी। परन्तु अपने इस अल्प जीवन-काल में ही उन्होंने कला के प्रति ऐकान्तिक समर्पण का जीवन बिताया और उस आधुनिकता का प्रतिनिधित्व किया जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह उतनी ही धर्मप्रधान और गहरी थी जितनी कि पुनर्जागरण-काल के कलाकारों की अपनी शैली के प्रति आस्था। शिमला की 'फाइन आर्ट सोसाइटी' द्वारा प्रदत्त एक पारितोषक को उन्होंने केवल इस लिए वापस कर दिया था कि वे प्रचलित कला शैलियों के साथ एकात्म न हो सकती थीं। उनका कहना था कि 'प्रचलित शैलियों के कलाकारों ने यह भूल की है कि वे प्रायः पूर्णतः पौराणिक कथाओं और रूमानी परिस्थितियों पर निर्भर रहे है।' यह बात महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अजन्ता की भावना को फिर से अपनाने की बात कही थी। अजन्ता की कला के विषय में उन्होंने यह स्वीकार किया था कि 'वह वास्तव में महान्, स्थायी और विशुद्ध चित्रकला है।' परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे किन्हीं मृत कला-रूपों की ओर लौटना चाहती थीं। उनका उद्देश्य तो रूप और रंग के ऐसे निश्चित गठन की तीव्र खोज था जिसके द्वारा वे अपने अन्तरंग के सत्य को अंकित कर सकतीं। वे अपने अंकन को बराबर सजाती और सँवारती रहीं और चित्रित विषयों को अधिक से अधिक सादगी और कम से कम विस्तार के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न करती रहीं। वे चाहतीं थीं कि उनकी कला में प्रागैतिहासिक कला की सादगी और शक्ति आ जाए। रंग के प्रयोग में उन्होंने बड़ी मौलिकता दिखाई और शुद्ध श्याम तथा शुद्ध सफेद रंगों का प्रयोग अद्वितीय सफलता के साथ किया। मुक्त वातावरण के दृश्यों का चित्रण करते हुए भी उन्होंने यही प्रयत्न किया कि वे रंगों का प्रभाव प्रकाश और छाया की अपेक्षा अपना धुँधला प्रकाश विकीर्ण करने की क्षमता में अधिक व्यक्त करें। भारतीय कला में आधुनिकता के आगमन के सम्बन्ध में जो सब से बड़ी सेवा उन्होंने की वह स्वयं अपनी कला-कृतियों द्वारा इस बात को प्रमाणित कर दिखाना था कि चित्रित विषयों के लौकिक होने और आभिजात्य की परम्परा से अलग चलने का अर्थ यह नहीं है कि कला के प्रति समर्पण की भावना में कुछ कम गहराई है।

वर्तमान अवस्था

आज कला का विकास कहां पहुँच चुका है इसे बताना कठिन है, क्योंकि विविध प्रवृत्तियां एक साथ आगे बढ़ रही हैं, यद्यपि यह एक स्वस्थ चिह्न है। भारतीय कला आज विश्ववादी है, क्योंकि वह बाहर के सुझावों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ रही है और यह कला राष्ट्रीय भी है क्योंकि जो कुछ वह आत्मसात् कर रही है और जिन तत्वों को व्यक्त कर रही है, वे राष्ट्रीय तत्व हैं। एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी विकसित हुआ है और वर्तमान कलाकारों को अतीत के ऐतिहासिक युगों की कला की अन्तरात्मा को स्पष्ट करने में सफलता मिली है। आल्टामीरा के प्रस्तर-युग के चित्रों की शक्ति और सरलता, मिस्र के भित्ति-चित्रों में आकृतियों के एक विशिष्ट शैली में चित्रण, ऐज़टेक मूर्तियों का गम्भीर प्रभाव, आरम्भिक कोप्टिक-कला

की चिन्तनशील गहनता, सुङ्ग कालीन प्रकृति-चित्रों में कल्पना की विशालता, हीरोशिगे की नरम परन्तु गम्भीर प्रगीतात्मकता, तिब्बती चित्रों का कथात्मक और घटनात्मक चित्रण और हब्शी कला का अचेतन प्रतीकवाद—इन सभी प्रभावों ने, जो देश और काल में एक दूसरे से बहुत दूर हैं, आधुनिक भारतीय कला पर अपना प्रभाव डाला है। भारत के उदीयमान कलाकारों पर जिन कलाकारों का प्रभाव सब से अधिक पड़ा है वे हैं वान गोग, गागुइन, और मैक्सिको के चित्रकार डिगो रिवेरा और ओरोज़को। आधुनिक प्रवृत्तियों की व्यापकता के कारण ही भारतीय कलाकारों में से कुछ ने विदेशी धर्मों के विषयों का चित्रण भी सफलतापूर्वक किया है, जैसे कि ईसा मसीह का जन्म, माजी की यात्रा और ईसा का महा-बलिदान आदि। वस्तुतः प्रत्येक कला-कृति किसी न किसी सार्वभौम तत्व की वैयक्तिक अभिव्यक्ति हुआ करती है और महान् पुरुषों, जैसे कि धर्म प्रवर्त्तकों की सार्वभौमिकता की एक गम्भीर असंगति यह होती है कि वह उस देश तक ही सीमित रह जाती है जिसने उनके सन्देश को स्वीकार किया है। भारत के ईसाई चित्रकारों ने ईसाई अभिजात कला के भारतीयकरण में बड़ी सहायता की।

शास्त्रीय कला की एक शक्ति यह है कि उसके अन्तर्गत प्रगीतात्मकता को बिना शैलीगत कुशलता की सहायता के अपने आप में स्वीकार नहीं किया जाता और उसकी दुर्बलता यह है कि प्रायः शैली की प्रवीणता को प्रेरणा-हीनता की क्षतिपूर्ति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। सौभाग्य से पुरानी पीढ़ी के कलाकार एल० एन० टस्कर, सोमनजी, पीठावाला और त्रिनदादे आदि ने अपनी शास्त्रीय कला को यथेष्ट प्रेरणा द्वारा समृद्ध बनाया। अभी चित्रकला के क्षेत्र में शौर्यपूर्ण और पौराणिक अतीत का प्रभाव यथेष्ट है और अनेक कलाकार अपनी कला को उक्त प्रभाव द्वारा समृद्ध कर रहे हैं। पुनर्जागरण के कलाकारों की काव्यात्मक शैली और प्रकृतवाद के द्वारा आकर्षित कलाकारों के अधिक प्रत्यक्ष अंकन को जोड़ने वाली कड़ी प्रकृत रूपों का अलंकृत चित्रण है।

प्रकृतवाद केवल बाह्य रूपों के आकार और वर्ण के तादृश अंकन तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि उसके अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म गठन भी आ जाता है और उसने अनेक कलाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कुछ कलाकार प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों और नश्वर प्रभावों द्वारा आकर्षित हुए हैं और कुछ को ऐन्द्रिक संवेदनाओं के स्थूलाभास और गठन शैली द्वारा उनके व्यापक निरूपण ने आकर्षित किया है। पशुओं और फूलों के कुछ चित्रणों में प्रकृतवाद ने काव्यात्मक रूप ग्रहण किया है। परन्तु अधिक सामान्य प्रवृत्ति यथार्थवाद की ओर है। घरों में कार्य में संलग्न स्त्रियों, व्यस्त बाज़ारों में ग्रामीणों और इसी प्रकार के अन्य मूलभूत विषयों का समावेश अनेक कलाकारों ने शक्तिशाली ढंग से किया है।

समग्र आधुनिक चित्रकला गहराई की खोज की प्रवृत्ति से प्रभावित है। कला में गहराई तब तक नहीं आ सकती जब तक उसमें सरलता न हो। गहराई की खोज के प्रयत्न स्वरूप उसमें कुछ हद तक विकृति भी आ जाती है। अतः रूपवादी तथा अभिव्यक्तिमूलक कला का मार्ग प्रकृतवादी कला से अलग होता है। प्रकृतवादी कला में अधिकाधिक व्यक्तिवादिता आती जाती है। रूपवादी कला में स्थिर जीवन के चित्रणों को प्रकृतवाद के सबसे निकट कहा जा सकता है क्योंकि जिन रूपों का तादृश चित्रण होता है उनका प्रयोग सरल गठन के द्वारा व्यक्तिवादी रूपों के विकास के लिए किया जाता है।

भारतीय चित्र-कला आज अपने अतीत की समृद्ध परम्परा के प्रति और साथ ही देश की सीमाओं के पार होने वाले प्रत्येक महत्वपूर्ण विकास के प्रति समान रूप से सजग है और वह आज अपने विकास की एक अत्यधिक उपयोगी अवस्था में पदार्पण कर रही है।

प्रतिकृतियाँ

भिक्षुणी
राजा रवि वर्मा

अगले पृष्ठ पर :
उमा
अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

नारी
रवीन्द्रनाथ टाकुर

मंदिर की सीढ़ियों पर
एम० वी० धुरन्धर

रास्ते का पड़ाव
एल० एम० तुनदार

कुरान का स्वाध्याय
पेम्पनहीं वींमनहीं

पं० गंगोली

गंगा माता
एल० एन० टस्कर

सेतुबन्ध (रामायण)
के० वेंकटप्पा
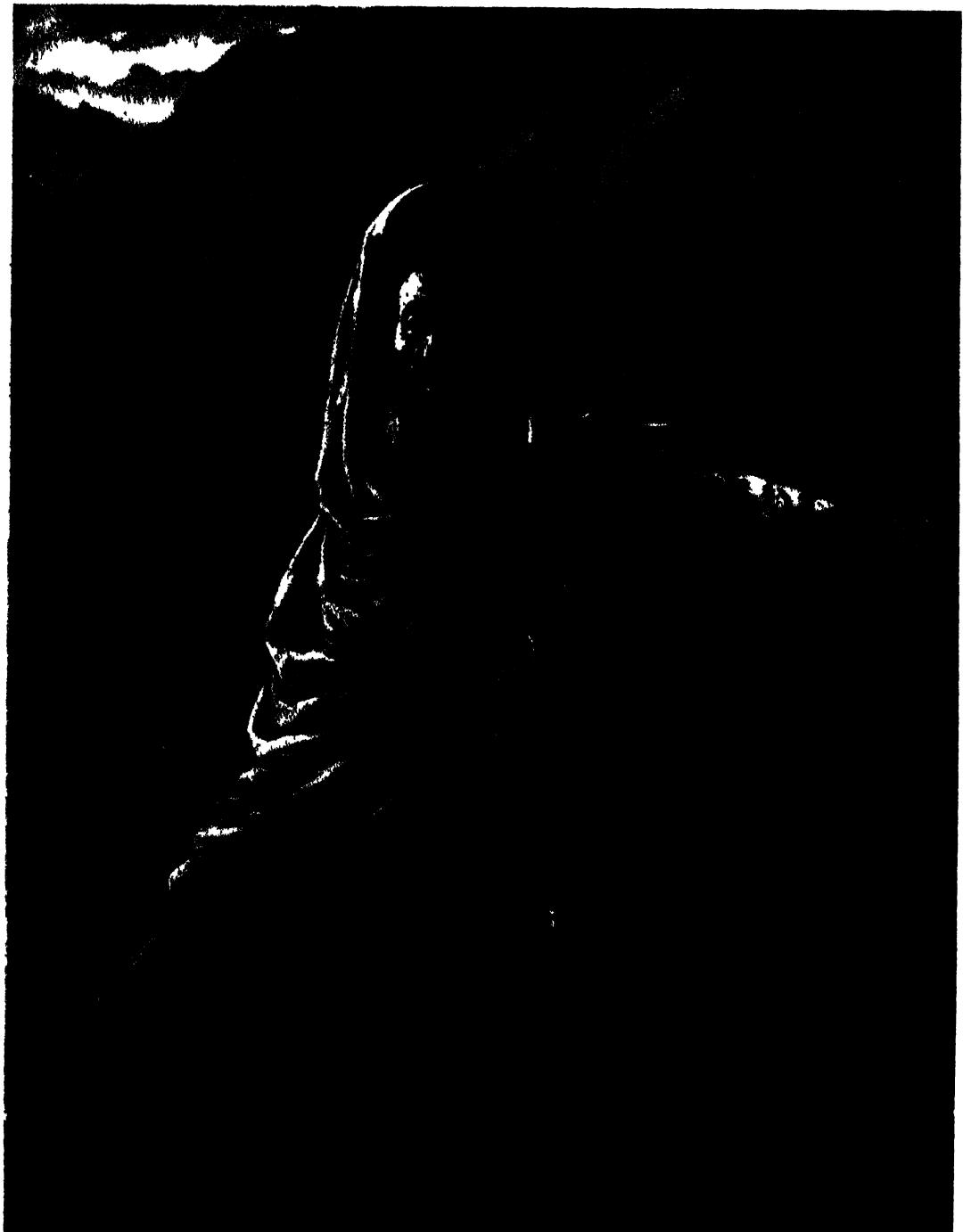
शकुन्तला
दुर्गाशंकर भट्टाचार्य

मुस्लिम तीर्थयात्री

एम० एल० हलदानकर

बुद्ध निर्वाण
शारदा उकील

बहन
यामिनी रा

संदेश
जे० एम० अहिवासी

शकुन्तला
मुकुल दे

कबूतर
डी० रामाराव

धरती की बेटी
रविशंकर रावल

तिब्बती मुस्कान
अतुल बोस

मृतों का देश
डी० पी० रायचौधुरी

शृंगार
एच० मजमदार

दुष्यन्त और शकुन्तला
सतीश सिन्हा

बालिका का मुख
एल० एम० सेन

नृत्य के लिए तैयारी
वी० ए० माली

स्वर्ण मन्दिर
एम० जी० ठाकुरसिंह

पतझड़
आर० एन० चक्रवर्त्ती

बाली के एक मन्दिर में
धीरेन्द्र देव वर्मन

माता और शिशु
वरदा उकील

दीपावली
विनोद बिहारी मुखोपाध्याय

रहस्यमयी प्रकृति
रणदा उकील

कोपई नदी
बी० रामकिंकर

दर्पण के सामने
भवेश सान्याल

विश्राम
अमृत शेरगिल

भावावेश

सुधीर खास्तगीर

मेंढ़ों की ग्वालिन

विनायक राव मासोजी

जीवन की तान

कनु देसाई

मछलियां
वाई० के० शुक्ल

कबूतर
नीहार चौधुरी

शृंगार
एन० एस० बेन्द्रे

हिम
जी० एस० हजारनीस

माता और शिशु
अवनी सेन

माता और शिशु
माधव सातवलेकर

कांगड़ा की सुन्दरी
शोभा सिंह

माता और शिशु
सुशील सेन

ग्राम्य जीवन
एम० पी० पल्सीकर

नागा
शिवकर चावड़ा

वाद विवाद
वी० डी० चिंचालकर

गलिया का गायक
पम० भट्ट

नाग दमन
सोमालाल शाह

गरीबों का स्वर्ग
रसिकलाल पारिख

ऊटी का मार्ग
सुशील कुमार मुखर्जी

प्रनय-पथ
आर० डी० धुपेश्वरकर

पिकनिक
गोपाल घोष

कन्धों का ज़ोर
जी० ई० पाल राज

कुतूहल
एन० हनुमय्या

मंडी का प्रवेश द्वार
जी० डी० अरुल राज
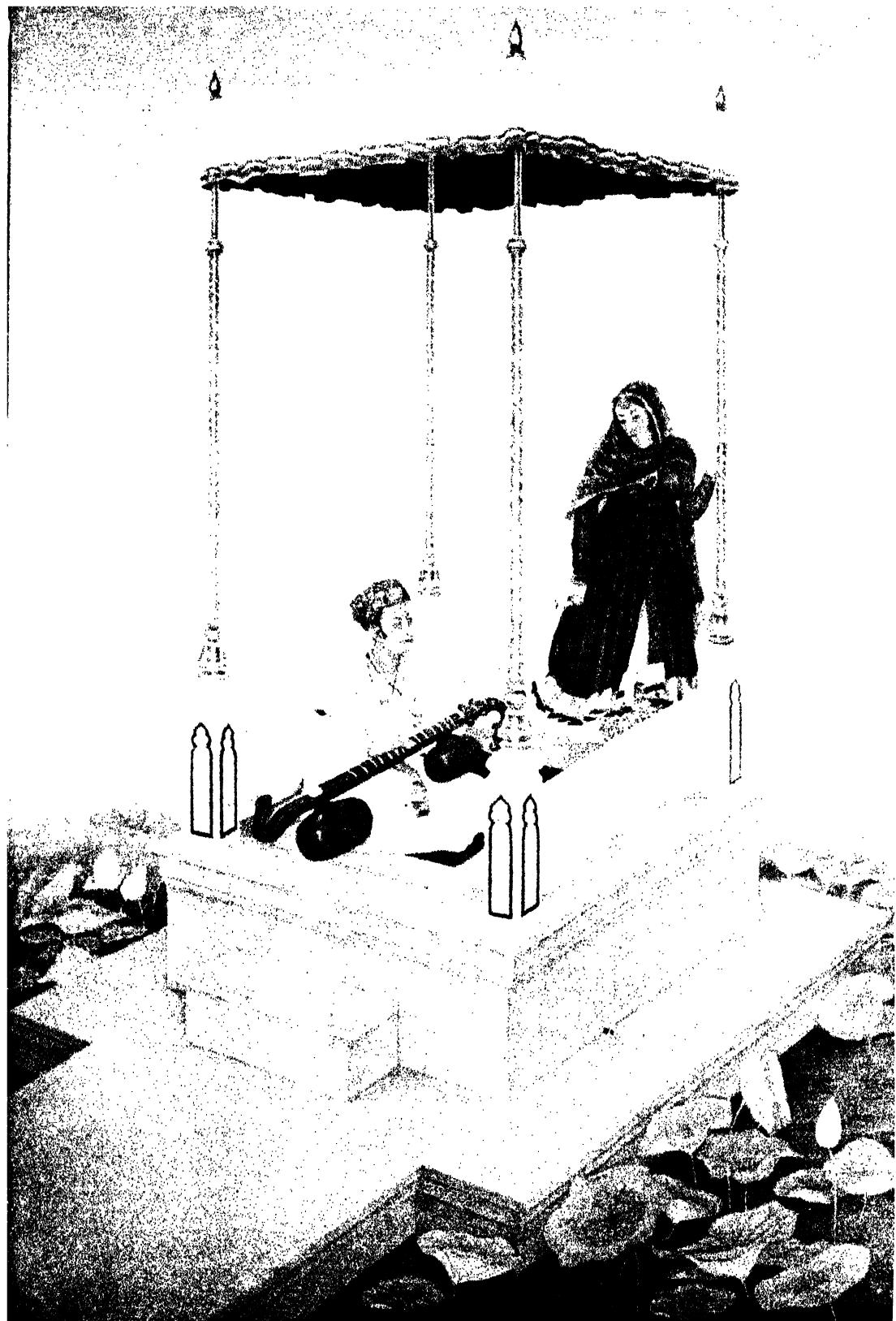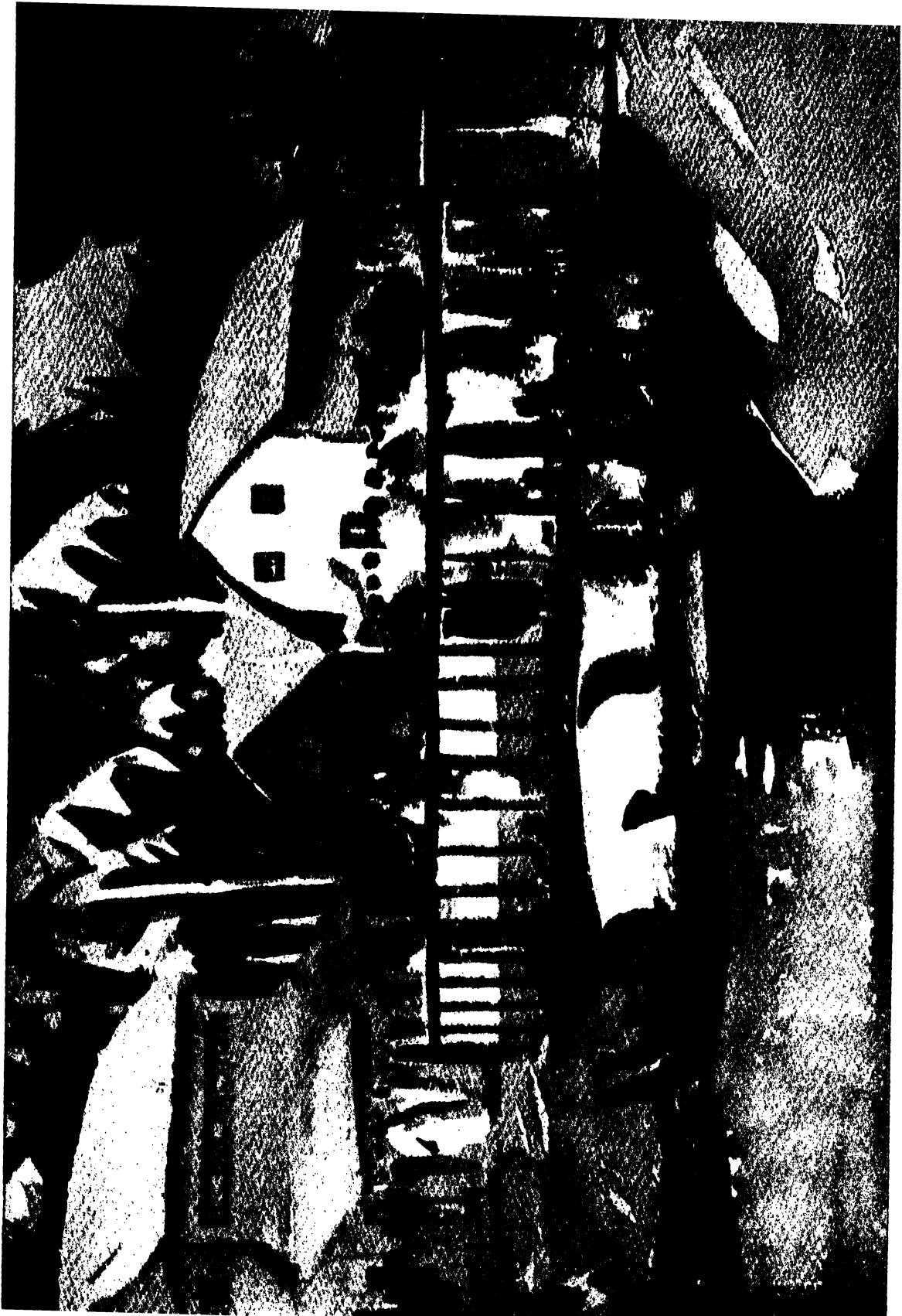
पक्षियों का स्वर्ग
जे० ज्ञानामृतम्

धान की कुटाई
परितोष सेन

कृष्ण और गोपियां
शीला आडेन

श्रद्धा

के० के० हब्बर

कांग्रेस अधिवेशन. अगस्त १९४२
मुंबई

ग्वाल
एस० एस० आनन्दकर

विरहाकुल राधा
रानी चंदा

महाराष्ट्र में बैलों की पैंठ
के० एम० धार

शापशार्य:
वी० वी० स्मार्त

वधू का शृंगार
अमूल्य गोपाल सेन

तीज का त्योहार
माखनदत्त गुप्त

नकली घोड़ों का नृत्य
के० श्रीनिवासुलु

जावा की सुन्दरी
दिलीप दास गुप्त

काला घोड़ा
देवयानी कृष्ण

नावों की दौड़
रथीन मैत्र

मा
एम० एफ० हुसैन

खण्डहरों में निर्माण
एच० ए० गाडे

काश्मीर की एक गली
एच० एस० रज़ा

बहनें
दमयन्ती चावला

करमा नृत्य
शीला सब्बरवाल

ईंटें ढोने वाली
प्रेमजा चौधुरी

बहन
अनिल राय चौधुरी

शरद्
ईश्वरदास

लक्ष्मी
मृनाल पाल

माता और शिशु
विश्वनाथ मुखर्जी

फसल
सुशील सरकार

राम की पादुका ले जाते हुए
कृपाल सिंह

नाग-फनी
सुभो टैगोर

गांव के द्वार पर
के० एच० आरा

कुल्लू की नर्तकियां
सर्वजीत सिंह

पर्वत निवासी
सत्येन घोषाल

जले हुए टीले पर वृक्ष
हरकृष्ण लाल

मिर्ज़ापुर में गंगा
वी० सेन

माता और शिशु
हीराचन्द्र दुगार

परिवार
बापूजी हैरू

राजपुतनी
इन्द्रा डुगर

लिली
प्राणकृष्ण पाल

ग्रीष्म
ए० ए० रैना

अलमोड़ में जल-वृष्टि

पी० एन० मागो

मूर्त्तियाँ

बापू
एच० राय चौधुरी

मेरा पुराना नौकर
वी० पी० करमरकर

गलियों के भिखारी
बी० बी० तालीम

माता और शिशु
सुधीर खास्तगीर

कुमारी ज्योति
डी॰ वी॰ जोग

जब सर्दी आती है
डी० पी० राय चौधुरी

आचार्य कृपलान
भवेश सान्याल

माता और शिशु
प्रमजा चौधुरी

प्रागैतिहासिक जन्तु सेन्टॉर
एम० के० वाकरे

बाल दार्शनिक
एन० जी० पनसारे

घोड़े की नालबंदी
धनराज भगत

एक भावाकृति
राम किंकर

नृत्य-मुद्रा
चिन्तामणि कर

दिलासा

प्रदोष दास गुप्त

अवनीन्द्रनाथ टाकुर
सुशील पाल

संगमरमर की अपूर्ण मूर्ति
प्रमोद गोपाल चटर्जी

राधा-कृष्ण
श्रीधर महापात्र